प्रथम सस्करण
मूल्य दो रुपया आठ आना

मुद्रक
रसिक प्रिंटर्ज़, करौल बाग, न्यू देहली

साहित्य का परिचय

साहित्य में वास्तव

कवि यदि एक वेदनामय चैतन्य लेकर जन्मे हों, यदि उन्होंने अपनी प्रकृति से विश्व-प्रकृति और मानव-प्रकृति की आत्मीयता सिद्ध करली हो, तो वे निखिल के बारे में जो अनुभव करेंगे उसकी वास्तविकता के बारे में उनके मन में कोई सन्देह नहीं रहेगा।

'लोग कुछ भी ठीक तरह से नही कर रहे हैं, जैसा होना चाहिये वैसा कुछ नही हो रहा है, आजकल वक्त ही खराब है'—ऐसी दुश्चिन्ता प्रकट करके भी आदमी आराम से नही रहता। इससे उसके खाने-पीने या निद्रा में किसी भी प्रकार का व्याघात नही पहुंचता, यह भी प्रायः देखा जाता है। दुश्चिन्ता की आग शीत की अग्नि की तरह उपादेय होती है, नजदीक रह कर भी तन का स्पर्श नही करती।

अतः यदि कोई इस तरह कहता कि आज कल कविगण जो साहित्य-सृष्टि कर रहे हैं, उसमें वास्तविकता नही है, वह जन-साधारण के उपयुक्त नही है, उससे लोक-शिक्षा का काम नही चल सकता, तो सम्भवतः मैं भी देश की दशा के बारे में उद्वेग प्रकाश करके कहता: बात तो ठीक है, और अपने को इस दल से बाहर निकाल लेता।

किन्तु, मेरे ही नाम पर यदि ऐसी बातो का प्रयोग किया जाय तो उससे दूसरे लोग चाहे जितने ही आनन्दित हो, मै उस आनन्द में पूर्ण रूप से योग नही दे सकूंगा। किन्तु ससुराल में वर और पाठक-सभा में लेखक की प्रायः एक ही दशा होती है। दोनों को अपने कानो से बहुत

से कठिन कौतुक सुनने पडते हैं और उन्हें चुपचाप हजम भी कर लेना पड़ता है। सहन इसलिये करते हैं कि एक जगह उनकी जीत होती है। चाहे कोई कितना ही पीडन करे, किन्तु जो वर है उसकी बहू को कोई हरण नहीं करेगा, और जो लेखक है उसकी रचना तो सुरक्षित ही रहेगी।

अतः अपने बारे में कुछ नही कहूँगा। किन्तु इस अवकाश में साहित्य पर कुछ कहा जा सकता है, जो नितान्त अप्रासङ्गिक नही होगा। क्योंकि यद्यपि सबसे पहले मेरे लेख को ही 'सेशन' को सौपा गया है, फिर भी खबर मिली है कि आजकल सभी लेखको का यही अपराध है।

वास्तवता का न रहना निसन्देह ही एक बहुत बडा धोखा है। वस्तु कुछ भी नहीं मिली किन्तु दाम देकर हँसते हुए चला गया, इस प्रकार के हतबुद्धि आदमी के लिये चतुर अभिभावक नियुक्त होना चाहिये। वही आदमी अभिभावक के लिये उपयुक्त होगा जिसे कवि अपने कला-कौशल से ठग न सके, कटाक्ष के द्वारा ही जो यह समझ सके कि वस्तु कहाँ है और कहाँ नही है। अत जो लोग अवास्तव साहित्य के बारे में लोगों को सावधान कर रहे हैं, वे नाबालिग और नालायक पाठको के लिए कोर्ट ऑफ वार्ड्स खोलने की व्यवस्था कर रहे हैं।

किन्तु समालोचक चाहे जितने विचक्षण व्यक्ति हो, हमेशा ही वे लोग पाठको को गोद मे बैठा कर सम्भालेंगे। यह तो और धृत धात्री किसी के लिये भी ठीक नही है। पाठको को स्पष्ट करके समझा देना होगा कि कौन-सी वस्तु है और कौन-सी वस्तु नहीं है।

किन्तु मुश्किल यह है कि वस्त एक नहीं है, और सब जगह हम एक ही वस्तु को तत्त्व नहीं कहते हैं। मनुष्य की बहुधा प्रकृति, और उसके प्रयोजन भी, बहुत से हैं और उसे अद्य वस्तु के सन्धान में रहना पडता है।

अब सवाल यह है कि साहित्य में हम कौन-सी वस्तु को ढूँढते हैं। उस्ताद लोग कहा करते हैं, हम रस-वस्तु को ढूँढते हैं। कहना निष्प्रयो-

ज्ञन है कि यहाँ हम रस साहित्य के वारे में ही कह रहे हैं। यह रस ऐसी चीज है जिसकी वास्तवता के वारे में तर्क उठने पर हाथापाई की नौवत आ जाती है और एक अथवा दोनो पक्ष भी यदि भूमिसात हो जाएं तो भी कोई मीमासा नही होती।

रस रसिक की अपेक्षा करता है, केवल मात्र अपने वल पर वह अपने को सप्रमाण नही कर सकता। पृथ्वी पर विद्वान्, वुद्धिमान, देश-हितैपी, लोकहितैपी प्रभृति नाना प्रकार के अच्छे आदमी हैं, किन्तु दमयन्ती ने जिस तरह सारे देवताओ को छोड कर नल के गले में माला पहनायी थी उसी प्रकार रस-भारती भी स्वयम्वर-सभा में सभी को छोड़ कर केवल रसिक का ही सन्धान किया करती है।

समालोचक छाती चौडी कर, ताल ठोक कर कहते हैं 'मैं ही वह रसिक हूं।' प्रतिवाद करने की हिम्मत तो नही होती, किन्तु अरसिक अपने को अरसिक के रूप में पहचान पाया हो, दुनिया में कही ऐसी घटना नही देखी गई। मुझे क्या अच्छा लगा और क्या अच्छा नही लगा, यही रस-परीक्षा का सर्वशेष निर्णय है, अधिकाश लोगो की यही धारणा है। इसी लिये साहित्य-समालोचना में विनय नही है। मूलधन न रहते हुए भी गुटवन्दी में जाने के लिये किसी को झिझक नही होती, उसी तरह साहित्य-समालोचना में भी किसी प्रकार की पूजी की जरूरत नही होती। क्योकि समालोचक का पद सम्पूर्ण सुरक्षित है।

साहित्य की परख करना यदि इतना कठिन है तो जो लोग साहित्य पर रचना करते हैं उनके पास कौनसा उपाय रह जाता है। मुझे तो कोई उपाय नही दीखता। यदि वे निश्चित फल जानना चाहते हैं तो इस भार को अपने प्रपौत्रो को ही सौपना पडेगा।

रस-विचार में व्यक्तिगत और कालगत भूल का सशोधन करके जब बहु व्यक्ति और दीर्घ समय के भीतर विचार्य वस्तु वह जाती है, तब सन्देह मिटता है।

किसी कवि की रचना मे साहित्य-वस्तु है कि नही इसके समझदार

सम-सामयिक कवि अवश्य मिलेंगे, किन्तु एकमात्र वे ही उपयुक्त हैं, इस प्रकार का अन्तिम निर्णय आरोपित करने में भूल होना असम्भव नहीं।

ऐसी अवस्था में लेखक की एक सुविधा यह होती है कि उसकी रचना को जो लोग चाहते हैं वे ही समझदार हैं, ऐसा सोच लेना अनुचित नही होता। दूसरे पक्ष को यदि वे नही चाहते तो ऐसी कोई अदालत नही है जहाँ कि उनके विरुद्ध मामला पेश किया जा सकता है। किन्तु यह अवश्य है कि काल की अदालत में इसका विचार चलता रहता है। यहाँ कवि की ही जीत होती है, कारण अभी तो उसी का ही अधिकार है। काल का प्यादा जिस दिन उसकी ख्याति-सीमा की खूटिया उखाड़ने आयेगा तो उस दिन समालोचक के उस तमाशे को देखने की अपेक्षा नही रहेगी।

जो लोग आधुनिक साहित्य में वास्तवता को ढूढ कर हताश हो गये हैं, वे लोग मेरी बातो के जवाब में कहेंगे 'तराजू पर चढा कर रस-वस्तु का परिमाण नही किया जा सकता, यह सत्य है, किन्तु रस-पदार्थ किसी एक वस्तु का आश्रय लेकर ही तो अपने को प्रकाश करता है। वहीं हमें वास्तवता का विचार करने का मौका मिलता है।'

यह तो निश्चित है कि रस का एक आधार है और वह मापदण्ड के आधीन भी है। किन्तु उसी वस्तु को तोल कर क्या साहित्य का मूल्य ठीक होता है?

रस में एक नित्यता होती है। प्राचीन काल में मनुष्य ने जिस रस का उपभोग किया था आज भी वह है। किन्तु वस्तु की दर बाजार-दर की तरह बदलती रहती है।

अच्छा, सोचा जाय कि कविता को वास्तव करने की इच्छा को अब मैं किसी तरह से नही दबा पा रहा हू। मै ढूढने लगा कि आजकल देश में कौनसी घटना सबसे अधिक वास्तव हो उठी है। देखा, ब्राह्मण-सभा समाज में रेलवे-सिगनल के स्तम्भ की तरह आखें लाल करके एक पैर का सहारा लेकर बहुत ऊचे स्थान पर है। कायस्थ लोग

जनेऊ लेंगे तो ब्राह्मण सभा उनका जनेऊ छीनेगी ही, यही घटना समाज में सबसे बडी है। अत कवियो ने इसे यदि अपनी रचना में स्थान नहीं दिया तो समझना होगा कि वास्तवता के बारे में उनकी धारणा क्षीण है। यह सोच कर मैने लिखा. 'जनेऊ-सहार-काव्य'। इसका वस्तु-पिण्ड तौल में कम नही हुआ, किन्तु हाय रे, सरस्वती ने अपना आसन वस्तुपिण्ड पर रखा है या पद्म पर !

इस दृष्टान्त के देने का एक कारण है। विचारको के मतानुसार वास्तवता क्या है, यह मै थोडा-बहुत समझ चुका हूं। मेरे विरुद्ध एक फरियादी ने कहा है कि मेरी सारी रचनाओ में वास्तवता का उपकरण यदि कही एकत्र हुआ है तो 'गोरा' उपन्यास में।

गोरा उपन्यास मे कौन-सी वस्तु है या नही है, यह उस उपन्यास का लेखक भी थोडा बहुत जानता है। लोगो के मुह से सुना, प्रचिलित हिन्दुत्व की बहुत अच्छी व्याख्या इसमें की गई है। इसी से अन्दाज किया है कि वही वास्तवता का एक लक्षण है।

वर्त्तमान में कई कारणो से हिन्दू अपने हिन्दुत्व को लेकर भीषण रूप से प्रतिक्रियाशील हो उठे हैं। इस विषय में उनके मनकी अवस्था सरल नही है। विश्व-रचना में यह हिन्दुत्व ही विधाता के हाथ की प्रधान सृष्टि है और इसकी सृष्टि में विधाता ने अपनी सारी शक्ति लगा दी है। यही हम लोगो का नारा है। साहित्य में वास्तवता को जब तौला जाता है तो यह नारा ही बटखरे का काम करता है। कालिदास को हम अच्छा कहते हैं, क्योकि उनके काव्य में हिन्दुत्व है। बंकिमचन्द्र को हम अच्छा कहते हैं, क्योकि पति के प्रति हिन्दु रमणी का जो रूप हिन्दू-शास्त्र सम्मत है, वह उनकी नायिकाओ में मिलता है।

दूसरे देशो में भी ऐसा होता है। इग्लेंड में जब इम्पीरियलिज्म का बुखार हर घण्टे बढ रहा था तो एक दल के अगरेज कवियो के काव्य मेंयह रस वर्ण वास्तवता प्रलाप कर रही थी।

उसके साथ यदि तुलना की जाय तो वर्डसवर्थ की कविता में वास्तवता कहाँ है ? उन्होंने विश्व-प्रकृति में जो आनन्द देखा था उस आनन्द से ब्रिटिश जन साधारण की शिक्षा और आचार-व्यवहार का योग क्या कहीं था ? उनके भावों की रागिनी निर्जनवासी अकेले कवि के चित्त में वंशी बजा रही थी।

कीट्स और शैली, इनके काव्यों की वास्तवता का किसके द्वारा निर्णय किया जाय ? अङ्गरेजों के जातीय सुर के साथ मिला कर क्या इन्होंने बख्शीश ली थी ? जो समालोचक साहित्य के बाजार में वास्तवता की दलाली किया करते हैं उन्होंने वर्ड्सवर्थ की कविताओं का कैसा आदर किया था यह खूब जग-विदित है। शैली को अस्पृश्य अन्त्यज की तरह समझ कर देश-त्याग का कठोर दण्ड दिया गया था और कीट्स को मृत्यु-बाण मारा गया था।

और भी आधुनिक दृष्टान्त, टेनिसन्। ये विक्टोरियन युग के प्रचलित लोक-धर्म के कवि थे। तभी इनका प्रभाव देश में सर्वत्र था। किन्तु विक्टोरियन युग की वास्तवता जितनी क्षीण होती जा रही है, टेनिसन् का आसन भी उतना ही संकीर्ण होता जा रहा है।

आधुनिक लेखकों का प्रधान अपराध यह है कि उन्होंने अंग्रेजी पढ़ ली है। अंग्रेजी शिक्षा हमारे लिये 'वास्तव' नहीं है। इसलिए वह वास्तविकता का कारण नहीं हो सकती। और यही कारण है कि आज का साहित्य साधारण लोगों को शिक्षा और आनन्द नहीं दे सकता।

ठीक है। किन्तु देश के जो लोग अंग्रेजी नहीं पढ़े हुए हैं, उनकी तुलना में तो हम, आधुनिक लेखक, बहुत ही थोड़े हैं। उनकी कलम तो किसी ने हरण नहीं की है। हम केवल अपनी अवास्तविकता के कारण देश के सारे वास्तविकों को हटा देंगे, यह तो स्वभाविक नियम नहीं है।

संभव हो कि कुछ लोग कहें 'आप लोग हार रहे हैं। जिन लोगों

ने अंग्रेजी नहीं पढ़ी है, वे ही देश का वास्तव साहित्य बना रहे हैं और यह साहित्य ही स्थायी रूप से रहेगा।'

यदि ऐसा ही हो तो फिर चिन्ता किस बात की है ? वास्तव-साहित्य का विपुल क्षेत्र सारे देश में फैला हुआ है, उसमें यदि थोड़ा-सा अवास्तव-साहित्य रह जाता है तो वह क्षण-स्थायी होगा।

किन्तु उस वास्तव-साहित्य के दर्शन मिलें तब न ! उसे देखकर एक आदर्श सोचा जा सकता है। जब तक उसके असली परिचय को हम जान नही लेंगे तब तक यदि जबर्दस्ती उसे मानना पड़े तो वह वास्तव नहीं होगा। वह साहित्य काल्पनिक होगा।

और, इधर अंग्रेजी पढे लोगो ने जो साहित्य-सृष्टि की, वह क्रोध में गाली देने पर भी दिनोंदिन बढ़ता ही जा रहा है। निन्दा करके भी उसे हम अस्वीकार नही कर सकते। यही वास्तव के लक्षण हैं। अंग्रेजी शिक्षा ने हमारे भीतर के 'वास्तव' को जगा दिया हैं। इस वास्तव से जो लोग डरते हैं, जो लोग बंधे हुए नियमो को ही श्रेय मानते हैं, वे चाहे अंग्रेज हो चाहे बंगाली, वे इस शिक्षा को भ्रम और इस जागरण को अवास्तव कह कर उडा देने का ढोंग रचते हैं। उनका तर्क यह है कि एक देश का आघात दूसरे देश को सचेत नही कर सकता। किन्तु दूर देशों की दक्षिण-हवा ने देशान्तर के साहित्य-कुंज में फूल खिलाये हैं, इतिहास में इसका प्रमाण मिलता है। वहाँ से जैसे भी हो, जीवन के आघात से दूसरा जीवन जाग उठता है, मानव के चित्त-तत्व में यह एक वास्तव घटना है।

किन्तु लोक-शिक्षा का क्या होगा ?

इस बात का उत्तर साहित्य नही देगा। लोग यदि साहित्य से शिक्षा लेने की कोशिश करें तो ले भी सकते है। किन्तु साहित्य लोगों को शिक्षा देने के बारे में कोई चिन्ता नही करता। किसी भी देश में साहित्य ने स्कूल-मास्टरी का भार नही लिया है। रामायण-महाभारत देश के सभी आदमी पढ़ते हैं, इसका यह कारण नही है कि ये ग्रन्थ

कृषक की भाषा में लिखे गये हैं या गरीब दुखियो की कहानी हैं। उनमें बड़े-बड़े राजा, बड़े-बड़े राक्षस, बड़े-बड़े वीर और बड़े-बड़े वानरो की बड़ी-बड़ी पूँछो की बातें हैं। शुरू से लेकर अन्त तक सारी कहानी ही असाधारण है। साधारण लोग अपनी गरज से इस साहित्य को पढना सीखे हैं।

साधारण लोग मेघदूत, कुमारसभव, शकुन्तला नही पढते। सभव हो दिग्‌नागाचार्य ने इन पुस्तको में 'वास्तव' का अभाव देखा था। मेघदूत की तो बात ही दूसरी हैं। कालिदास स्वय इन वास्तववादियो के डर से एक स्थान पर नितान्त अकविजनोचित कैफियत देने के लिए बाध्य हुए थे—"कामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेत—नाचेतनेषु।"

मैं अकविजनोचित इसलिये कह रहा हूँ कि कवि मात्र ही चेतन-अचेतन में मेल रखते हैं। कारण, वे विश्वमित्र हैं। वे न्याय के अध्यापक नही हैं, शकुन्तला का चौथा अक पढने पर ही यह समझा जा सकता है।

किन्तु मैं यह कह रहा हूँ कि यदि कालिदास का काव्य अच्छा है तो वह सारे मनुष्यो के लिए और भविष्य के भडार में भी सचित रहेगा। आज के साधारण लोगो ने जिसे नही समझा, आगामी काल के साधारण लोग उसे शायद समझें, यह आशा करता हूँ। किन्तु, कालिदास यदि कवि न होकर लोकहितैषी होते तो उस पाँचवी शताब्दी में उज्जयिनी के कृषको के लिए प्राथमिक शिक्षा की कुछ कितावें लिखते—तो उसके बाद की इतनी शताब्दियो का क्या हाल होता ?

क्या आप सोचते हैं कि लोकहितैषी तब कोई नही था ? लोगो की उन्नति तब कैसे हो ऐसी चिन्ता करके क्या किसी ने भी कोई पुस्तक नही लिखी ? किन्तु क्या वह साहित्य है ? स्कूल की पढाई के बाद पुरानी कितावो की जो दशा होती है, उनकी भी वही दशा हुई होगी।

जो उत्तम है उसे पाने के लिए साधना करनी पडती है। यह साधना राजा के लडके को भी करनी होगी, कृषक के लडके को भी। राजा के लड़के की सुविधा यह है कि उसके पास साधना करने का वक्त रहता है, कृषक के पास नही रहता। किन्तु यह सामाजिक व्यवस्था का तर्क है— यदि प्रतिकार कर सके, कीजिये—किसी को भी आपत्ति नही होगी। तानसेन इसके लिए मीठे सुर की तैयारी करने नहीं बैठेंगे। उनकी सृष्टि, सृष्टि के आनन्द के भीतर से होगी, उसमें और कोई उद्देश्य न होगा। जो लोग रस-पिपासु हैं, वे यत्नपूर्वक शिक्षा लेकर उन ध्रुपदो के मधु-कोष में पैठने की कोशिश करेंगे। किन्तु साधारण लोग जब तक उन मधुकोषो का रास्ता नही जानते तब तक तानसेन का गीत उनके लिए 'अवास्तव' की श्रेणी में रहेगा। तभी कह रहा था कि कहाँ किस वस्तु को ढूंढना होगा, कैसे ढूंढना होगा, कौन ढूंढेगा, यह सब तो अपने ऊपर निर्भर करता है।

किन्तु कवियो का क्या अवलम्बन है ? किसी वस्तु पर वे जरूर टिक कर खडे हैं। वह है अन्तर की अनुभूति और आत्मप्रसाद। कवि यदि एक वेदनामय चैतन्य लेकर जन्मे हो, यदि उन्होने अपनी प्रकृति से विश्व-प्रकृति और मानव-प्रकृति से आत्मीयता करली हो, तो वे निखिल के बारे में जो अनुभव करेंगे उसकी वास्तवता के बारे में उनके मन मे कोई सन्देह नही रहेगा। विश्ववस्तु, और विश्वरस को एकदम अव्यवहित भाव से उन्होने अपने जीवन में अनुभव किया है, यही उनका जोर है। कवि यह जानता है कि जो उनके पास सत्य है, वह कही असत्य नही हो सकता। यदि वह किसी के पास मिथ्या है तो वह मिथ्या ही मिथ्या है। जिस आदमी ने आँखें बन्द कर रखी हैं, उसके पास आलोक जैसे मिथ्या है, यह भी उसी प्रकार मिथ्या है। काव्य की वास्तवता के बारे में कवि स्वय अपने भीतर जिस प्रमाण को जानता है, विश्व में भी वही प्रमाण रहता है। उस प्रमाण की अनुभूति प्रत्येक को नही है। अतः विचारक के आसन पर बैठ कर चाहे जो राय दें, किन्तु टिप्पी

जारी करने के वक्त यह राय कहाँ तक काम आयेगी, यह सोचने की बात है।

कवि की आत्मानुभूति के जिस उपादान की बात मैंने अभी कही, वह प्रत्येक कवि में समान रूप में रहती हो, ऐसी बात नही है। यह नाना कारण से कभी आवृत होती है, कभी विकृत होती है। नगद मूल्य के प्रलोभन से कभी-कभी उस पर बाजार में प्रचलित आदर्श की नकली छाप भी लगा दी जाती है। इसलिए उसके सारे अशों का समान रूप से आदर नही हो सकता। किन्तु, कवि के काव्य का विचार होता है। उसके काव्य को जो पढ़ता है, वही विचार करता है। इस विचार में सभी एकमत नही होंगे। किन्तु यदि कवि आत्मप्रसाद पा चुका है तो अपना प्राप्य हाथों हाथ ले लेगा। किन्तु प्राप्य से ऊपर की आशा का अधिक लोभ रहता है। इसीलिए छिपा कर हाथ फैलाना पडता है। यहीं खतरा है। कारण-लोभ से पाप और पाप से मृत्यु पडती है।

कवि की कैफियत

हम जिसे जीवन-लीला कहते हैं, पश्चिम समुद्र के उस पार के लोग उसे ही जीवन-संग्राम कहते हैं।

इसमें कोई नुकसान नहीं है। एक काव्य को मैं यदि कहूँ रामायण और तुम कहते हो कि नहीं, यह तो राम-रावण का युद्ध है, तो इसे लेकर अदालत की शरण लेने की आवश्यकता नहीं है।

किन्तु मुश्किल की बात तो यह है कि इसे व्यवहार करते हुए हमें शर्म आती है। जीवन तो केवल लीला है! यह सुनकर दुनियाँ के सारे पहलवान, जो केवल ताल ठोक रहे हैं, कहाँ जायेंगे?

मैं स्वीकार कर लेता हूँ कि इसमें मुझे लज्जा की कोई बात नहीं दीखती है। यह सुनकर मेरा अंग्रेजी मास्टर सबसे बड़ा शब्द वेधी बाण मुझे मार सकता है—'अरे तुम तो पूरे 'ओरियन्टल' हो।' किन्तु उससे मैं मरूँगा नहीं।

'लीला' कहने पर सारी बात कही गई और 'लड़ाई' कहने पर आदि और अन्त बाद चले गये। इस लड़ाई का आरम्भ कहाँ और शेष कहाँ? भाँगखोर विधाता की भाँग का प्रसाद लेकर सहसा हम ऐसे मत्त क्यों हो गये? क्यों भाई, फिजूल की लड़ाई किस लिये कर रहे हो?

जीवित रहने के लिये।

मुझे जीने की क्या आवश्यकता है?

जीवित नहीं रहेगा तो मर जायेगा।

यदि मर ही गये तो ?

मरना तो चाहते नही ।

क्यों नहीं चाहते ?

चाहते नही, इसीलिये ।

इस जवाब को सक्षिप्त में 'लीला' कहा जा सकता है । जीवन में जीवित रहने की यह एक अहेतुक इच्छा है । यह इच्छा ही अन्तिम है । इसके कारण हम लडते हैं, दुःख को स्वीकार कर लेते हैं । किन्तु यह सब क्यो होता है ? जीवन अथवा यह जगत लीला मात्र है, यह सुन कर लोग अपने कामो में ढिलाई कर देंगे ।

इस बात पर ही यदि मनुष्य का काम करना और न करना निर्भर करता है तो शुरू में ही जिन्होने विश्व की सृष्टि की है, उनका मुँह बन्द कर देना पडेगा । साधारण कवि पर नाराज होने में क्या बहादुरी है ? खुद सृष्टि-कर्त्ता क्या कहते हैं ?

वे चाहे जो कहे, लडाई की बात जहाँ तक होगी, वे दबा कर रखेंगे । मनुष्य का विज्ञान कहता है, जगत के अणु परमाणु तक आपस में लड रहे है । किन्तु हम लोग युद्ध-क्षेत्र की ओर देखते हैं तो देख पाते हैं कि युद्ध का कारण फूल के रूप में खिलता है, आकाश में नक्षत्र के रूप में प्रकाशित होता है, नदी के रूप में चलता है बादल के रूप में उडता है । समग्र का जब समग्र के रूप मे देखते हैं तो भूमि के क्षेत्र में सुर-से-सुर मिला हुआ, रेखा-से-रेखा मिली हुई, रग से रग का योग देख पाते हैं । विज्ञान उस समग्र से विच्छिन्न करके केवल दला-दली, ठेला-ठेली और हाना हानि ही देख पाता है । वह अविच्छिन्न सत्य-विज्ञान का सत्य हो सकता है किन्तु वह कवि का सत्य नही हो सकता, कविगुरु का भी नही ।

अन्य कवियो की बात रहने दीजिये, आप अपनी बात कहिये ।

अच्छी बात है । तुम लोगो की नालिश यह है कि खेल, छुट्टी का आनन्द, यह सब मेरे काव्य में बार बार आये हैं । यह बात यदि सत्य हैं तो समझना पडेगा, मुझ में किसी सत्य का उदय हुआ है ।

उसकी आड़ लेकर मैं अब नही चल सकूँगा। अत अब मैं विधाता की तरह निलज्ज होकर एक ही बात को हजार बार कहूँगा। यदि मुझे बना कर बोलना पड़ता, तो प्रत्येक बार नई बात न कहने पर लज्जा होती। किन्तु सत्य को लज्जा नही, डर नही, चिंता नही। वह अपने को प्रकाशित करता है। अपने को प्रकाश करने के सिवाय उसका और कोई रास्ता नही है, इसीलिये वह बेपरवाह है।

इसीलिये आपकी वाणी अहकार युक्त लगती है ?

सत्य की दुहाई लेकर यदि निन्दा करने में दोष नही है तो अहकार करने में भी दोष नही है। अत. हमने आपसी फैसला कर लिया है।

फालतू बात ! जिसे लेकर तर्क उठा था वह—वह यह ह कि जगत की शक्ति की लडाई को प्रधान करके देखना, अविच्छिन्न रूप में देखना है—अर्थात् गाना बाद देकर सुर की कसरत देखना है ; आनन्द को देखना ही सम्पूर्ण देखना है। यह बात हमारे देश की सबसे बडी बात है। उपनिषद् की प्रधान बात यह है कि आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्दन जातानि जीवन्ति आनन्दम् सम्प्रयन्त-भिसविशन्ति। आनन्द से ही सब उत्पन्न होते हैं, उसी से जीवित रहते हैं, और आनन्द की ओर ही सब चलते हैं।

यही यदि उपनिषद की अन्तिम वाणी है तो क्या ऋषि कहना चाहते हैं कि जगत में पाप, दुख नहीं है ? हम तो यही पर अधिक ध्यान देते हैं, नही तो मनुष्य को चेतना होगी कहाँ से।

उपनिषद में इसका उत्तर है कोह्येवान्यात् क. प्राययात् य देष आकाश मादन्दो न स्यात्। कौन शरीर की चेष्टा करता (अर्थात् कौन दुख-वन्वा लेश मात्र भी स्वीकार करता) यदि आनन्द सारे आकाश में नहीं भरा रहता।

अर्थात् आनन्द को ही अन्तिम सत्य जान कर लोग दुःखद्वन्द सहन कर सकते हैं। सिर्फ यही नही, दु.ख का परिणाम ही आनन्द का परिणाम है। हम प्रेम को उतना ही सत्य मानते हैं जितना वह दु.ख

सहन करता है। अतः दुख तो है ही, किन्तु उसके ऊपर आनन्द है तभी वह टिका है। नही तो कुछ नहीं रहता, विवाद भी नही। तुम लोग जब दुख को स्वीकार कर लेते हो तो आनन्द को बाद दे देते हो, किन्तु आनन्द को स्वीकार कर लेने के बाद दुःख को बाद नहीं देना पडता। अत तुम लोग जब कहते हो कि संघर्ष करते-करते जो अवशेष रहा, वही सृष्टि है तो यह एक हवाइ बात हुई, अग्रेजी में जिसे कहते हैं 'ऐब्सट्रैक्शन,' और आनन्द से ही सब कुछ हो रहा है तथा उसी से सब कुछ स्थिर है, यही सम्पूर्ण सत्य है।

अच्छा, आपकी बात ही मान लेता हू, किन्तु यह तो तत्वज्ञान की बात हुई। वास्तविक क्षेत्र में इसका क्या मोल ?

इसका जवाब कवि न देगा और न वैज्ञानिक ही। किन्तु आज-कल जैसा समय आया है, उस में कवियों को भी दुनियादारी का हिसाब रखना पडता है। हमारे देश में अलकार शास्त्र के रस को हमेशा अहेतुक अनिर्वचनीय कहा गया है। इस लिये जो रस के कारबारी हैं, उन्हें यहाँ प्रयोजन-हाट में महसूल नही देना पडता। किन्तु सुनता हूं कि पश्चिम में कोई-कोई नामी व्यक्ति रस को ही काव्य की चरम वस्तु मानने को तैयार नहीं हैं। इसलिये कही भी अनिर्वचनीयता की दुहाई देने पर आजकल हमारे देश में भी लोग प्राचीन और 'ओरियन्टल' कह कर निन्दा कर सकते हैं। वह निन्दा असह्य नही, किन्तु काम के आदमी को जहाँ तक हो सके सुखी रखा जाय तो ही अच्छा है। यद्यपि मैं सिर्फ कवि मात्र हू, तो भी इस विषय पर मेरी समझ में जो आता है उसे जरा शुरू ने कहना चाहता हूं।

जगत में सत्, चित् और आनन्द के प्रकाश को हम ज्ञान की 'लैबोरे-टरी' में विश्लिष्ट करके देख सकते हैं, किन्तु ये एक-दूसरे से विभिन्न नहीं हैं। वृक्ष काष्ट वस्तु मात्र नही है, उसकी रस-ग्रहण करने की शक्ति और प्राण भी काष्ट नहीं है। वस्तु और शक्ति की एक समग्रता के भीतर जो एक अखण्ड प्रकाश है, वही वृक्ष है। वह एक

ही समय वस्तुमय, शक्तिमय और सौन्दर्यमय है। वृक्ष इसीलिये आनन्द देता है। इसीलिये वृक्ष विश्व और पृथ्वी का ऐश्वर्य है। वृक्ष में छुट्टी के साथ काम का, काम के साथ खेलने का, कोई विच्छेद नही है, इसीलिये हरी प्रकृति में चित्त विराम पाता है—विश्राम का पूर्ण रूप दिखाई देता है। वह रूप काम के विरुद्ध नही है, वस्तुतः वह काम ही सम्पूर्ण रूप है, वह कर्म का सम्पूर्ण रूप आनन्द रूप है, सौन्दर्य रूप है। वह काम है, किन्तु लीला भी है, कारण काम और विश्राम एक साथ होवे हैं।

सृष्टि की समग्रता की धारा मनुष्य के भीतर आकर टूट गयी है। इसका प्रधान कारण यह है कि मनुष्य की अपनी एक इच्छा है, जगत की लीला के साथ वह समग्र ताल पर नही चलता। विश्व की ताल को वह आज भी सम्पूर्ण रूप से नही जान पाया है। इसीलिये वह अपनी सृष्टि को असंख्य खण्डो में विभक्त करके किसी तरह उनकी ताल ठीक कर लेता है। किन्तु इससे पूरे संगीत का रस भग हो जाता है और विभक्त खण्डो की ताल ठीक नही रहती।

एक दृष्टान्त, लडको की शिक्षा। मानव सन्तान के लिये ऐसा दुःख और नही है। पक्षी उडना सीखता है, मां-बाप के स्वर की नकल करके उसे सीखता है, वह उसकी जीवन-लीला का अङ्ग है—विद्या के साथ प्राण और मन की लडाई नही। यह शिक्षा सम्पूर्ण छुट्टी के दिन की तरह ही है, खेल के भेष में काम रहता है। किन्तु मनुष्य के घर शिशु के रूप में जन्म ग्रहण करना मानो अपराध हो, बीस वर्ष तक दंड मिलेगा। इस विषय पर मैं अधिक तर्क न करके सिर्फ यही कहूगा कि यह बड़ी भारी भूल है।

असल में मनुष्य की ग़लती यह है कि अधिकाश लोग अपने को ठीक भाव से प्रकाशमान नही कर पाते हैं और अपने को पूर्णरूप से प्रकाशमान करने में ही आनन्द मिलता है। माँ जहाँ केवल माँ है, वहाँ उसका काम कितने ही झंझट का हो, उसे आनन्द मिलता है। क्योंकि

मात्र यही जानेगा कि कैसे और कौन से खाद्य द्वारा हमारी पुष्टि होती है, तो ठीक नही है। उसे अपने ज्ञान स्वरूप के द्वारा रात्रि के समय बार-बार जिज्ञासा करनी पडेगी मगलग्रह में जो चिह्नजाल है, वह क्या है ? इस तरह जिज्ञासा करते रहने पर सभव है, उसकी दैनन्दिन जीवन-यात्रा पीडित हो। इस लिए मनुष्य के ज्ञान-विज्ञान को उसकी ज्ञानमय प्रकृति के साथ जानना ही ठीक तरह से जानना है।

मैं हू, मुझे टिक कर रहना है, यह बात जब सकीर्ण सीमा में रहती है तो आत्मरक्षा-वशरक्षा केवल हमारे अहम् को ही जकडे रहती है। किन्तु जिस परिणाम में मनुष्य यह कहता है कि दूसरो के रहने में ही मेरा रहना है, उतने ही परिणाम में वह अपने जीवन में अनन्त का परिचय पाता है, उतने ही परिणाम में 'मैं हू' और 'दूसरे भी हैं' उसका यह व्यवधान दूर हो जाता है। अन्य के साथ इस ऐक्य-बोध के द्वारा जो महात्म्य् आता है, वही आत्मा का ऐश्वर्य है। इसी मिलन-प्रेरणा से मनुष्य अपने को नाना रूप में प्रकाश करता रहता है। जहाँ मनुष्य अकेला है, वहां उसका प्रकाश नही पडता। जीवित रहने की असीमता के बोध को, अर्थात् 'दूसरो के रहने में ही अपना रहना' इस अनुभूति को, मनुष्य किसी तरह की क्षुद्र सीमा में बांध कर नही रख सकता। तब वह महाजीवन के प्रयोजन-साधनार्थ नाना प्रकार की सेवाओ और त्याग में अपने को उत्सर्ग कर देना चाहता है। उस महाजीवन के आनन्द को वह साहित्य में, स्थापत्य में, मूर्त्ति में, चित्रो में, गीतो में, प्रकाश करता है।

पहले ही कह चुका हू, केवल अपने जीवित रहने में भी ज्ञान की आवश्यकता होती है। किन्तु उस ज्ञान में दीप्ति नही है। ज्ञान के राज्य में जहाँ असीम की प्रेरणा रहती है वहाँ मनुष्य की शिक्षा के लिए कितना आयोजन, कितनी पाठशाला, कितने विश्वविद्यालय, कितने वीक्षण, कितने परीक्षण, कितने आविष्कार, कितनी उद्भावना। वहाँ मनुष्य का ज्ञान सार्वजनीन और सर्वकालीन होकर मानव आत्म के सर्वत्र

प्रवेश करने के अधिकार की घोषणा करता है। इस अधिकार का विचित्र आयोजन विज्ञान में, दर्शन में विस्तृत होता रहता है, किन्तु उसका विशुद्ध आनन्द-रस नाना रचनाओ में और आर्ट में प्रकाशित होता है।

तो भी एक बात देखी है कि पशुओ की तरह मनुष्य की जीवित रहने की इच्छा प्रबल होती है, पशुओ की तरह मनुष्य का ज्ञान का कुतूहल जिस तरह सचेष्ट रहता है, उसी तरह मनुष्य में एक विशेषता है जो पशुओ में नही है। वह है उसका प्रकाश-तत्व।

प्रकाश एक ऐश्वर्य है। जहाँ मनुष्य दीन है वहाँ प्रकाश नहीं है, वहाँ वह जो लाता है वही खा लेता है। जिसे स्वयं शोषण करके निःशेष नही कर पाता हू उसी के द्वारा ही तो प्रकाश होता है। लोहा गरम होते-होते जब तक दीप्त ताप तक नही पहुँचता है तब तक उसका प्रकाश नही होता। आलोक ही ताप का ऐश्वर्य है। मनुष्य का जो भाव स्वकीय प्रयोजन से अन्तमुं क्त नही है, जिसके प्राचुर्य को अपने भीतर नही रखा जाता, जो स्वभावतः ही दीप्यमान् है, उसी के द्वारा मनुष्य के प्रकाश का उत्सव होता है। रुपये के भीतर यह ऐश्वर्य कहाँ है? जहाँ वह मेरे एकान्त प्रयोजन के ऊपर है, जहाँ वह मेरी जेब में प्रच्छन्न नही है, जहाँ उसकी रश्मि ही मेरे कृष्णवर्ण अहम् के द्वारा सम्पूर्ण शोषित नही हो रही है, वही उसमें अशेष का आविर्भाव होता है और यह अशेष ही नाना रूपों में प्रकाशमान होता है। उस प्रकाश की प्रकृति यह है कि हम सभी कह सकते हैं, 'यह तो मेरा है।' वह जब अशेष को स्वीकार कर लेता है तो वह अमुक विशेष व्यक्ति की भोग्यता के मलिन सम्बन्ध से मुक्त हो जाता है। अशेष के प्रसाद से वंचित उस विशेष भोग्य-दान की वर्बरता से वसुन्धरा पीड़ित है। दैन्य के भार की तरह और भार नही है। रुपया जब दैन्य का वाहन होता है तो उसके चक्र के तले न जाने कितने लोग पिस जाते हैं। उस दैन्य का नाम है 'प्रताप'। वह आलोक नही है, वह केवलमात्र दाह है। वह जिसका है सिर्फ उसी

का है। इसलिए उसे अनुभव किया जा सकता है, स्वीकार नहीं किया जा सकता। निखिल के इस स्वीकार को ही कहते हैं प्रकाश।

इस प्रताप की रक्त-पंकिल अशुद्धि को प्रकृति अपनी श्यामल अमृत-धारा से बार-बार पोंछ देती है। फूल सृष्टि के अन्तर से सौंदर्य लाते हैं और प्रताप के कलुषित पदचिह्नों को लज्जा से केवल ढके ही रहते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि 'हम छोटे हैं, हम कोमल हैं, किन्तु हम ही चिरकाल के हैं।' क्योंकि सभी ने हमें वरण कर लिया है—और वह जो उद्यत् मुष्टि विभीषिका, जो पत्थर पर पत्थर रख कर अपने किले को अभ्रभेदी कर रही है, वह कुछ नहीं है, कारण उसे कोई स्वीकार नहीं कर रहा है—माधवी वितान की सुन्दर छाया ही उससे अधिक सत्य है।

यह जो ताजमहल—ऐसा ताजमहल है, इसका कारण है शाहजहान का हृदय। उसका प्रेम-विरह वेदना के अनन्त को स्पर्श कर चुका था; उन्होंने सिंहासन को जहाँ भी रखा हो, अपने ताजमहल को उन्होंने अपने से मुक्त कर दिया था। वह अब अपना-पराया नहीं है, वह अनन्त की वेदी है। शाहजहान का प्रताप जब दस्युवृत्ति करता है तो उसका लूट का माल चाहे जितना ही प्रभूत हो, उसमे उसकी अपनी थैली का भी पेट नहीं भरता, इसलिए क्षुधा के अन्धकार में वह डूब कर लुप्त हो जाता है। और जहाँ परिपूर्णता की उपलब्धि उसके चित्त में आविर्भूत होती है, वहाँ वह उस दैव वाणी को अपने कोषागार में, अपने विशाल साम्राज्य में, कहीं भी पकड़ कर नहीं रख सकता। सर्वजन के हाथों में और नित्यकाल को समर्पण करने के सिवाय और कोई चारा नहीं रहता। इसे ही कहते हैं, प्रकाश। हमारे सारे मंगल अनुष्ठानों में ग्रहण करने के उपयुक्त मन्त्र है—ओऽम्, अर्थात् हाँ। ताजमहल है वही नित्य उच्चारित ओऽम्—निखिल का वही ग्रहण मन्त्र मूर्तिमान है; शाहजहान के सिंहासन पर यह मन्त्र नहीं पढ़ा गया था। एक दिन उसके पास चाहे कितनी ही शक्ति हो—वह शक्ति तो 'ना' होकर न जाने कहाँ चली गई। वैसे ही कितने बड़े-बड़े नामधारी 'ना' के दल में

'आज दम्भ से विलुप्ति की ओर जा रहे हैं। उन तोपो से और वन्दियों की शृंखला की झंकार से कान वधिर हो उठे, किन्तु यह मायामात्र है, ये अपनी ही मृत्यु का नैवेद्य लेकर काल-रात्रि के पार काली घाट की यात्रा कर रहे हैं। लेकिन शाहजहान की कन्या जहांनारा का वह करुण गीत? उसे हम कहेंगे—ओऽम्।

किन्तु हम दान करना चाह कर भी क्या दान कर सकते हैं? यदि कहें, 'तुभ्यमहं सम्प्रददे' तो क्या वरदान हाथ पर आजायेगा। नित्य काल और निखिल विश्व यही कहते हैं—'यदेतत् हृदयं मम'—उसके साथ तुम्हारा सम्प्रदान मिथ्या रहना चाहिये। तुम्हारे अनन्तम् जो देंगे, वही मैं ले सकूंगा। उन्होंने मेघदूत को लिया हैं, जो उज्जयिनी की विशेष सम्पत्ति नही था, जिसे विक्रमादित्य के सिपाही उनके अन्तःपुर की हस-पादिकाओं के महल में वन्दी नही कर सके थे। पण्डितगण इस तर्क पर लड़ते रहे कि वह ईसा के जन्म के पांच सौ वर्ष पहले रचित हुआ था या पीछे, किन्तु उसके देह पर सर्वकाल की छाप लगी हुई है। पण्डित-गण यह तर्क भी करते रहे कि वह शिप्रातीर पर रचित हुआ था या गंगा तीर पर, किन्तु उसके मन्दाक्रान्त में पूर्व वाहिनी, पश्चिम वाहिनी, सभी नदियो की कल-कल-ध्वनि सुनाई पड़ती है। दूसरी ओर, ऐसी पाँचालियां है, जिनके अनुप्रास की छटा चकमक ठोकने पर स्फुल्लिंग वर्षा की न्याय सभास्थ हजारो लोगो को मुग्ध कर देती है। उनकी विशुद्ध स्वदेशिकता पर हम चाहे जितने ही उत्तेजित क्यो न हो, इन पाचालियों का देश और काल सुनिर्दिष्ट है। किन्तु सर्वकाल में उनका वर्णन होते रहने पर, कुलीन की अनूढ़ा कन्या की तरह, वे व्यर्थ के कुल-गौरव को छोड़कर निःसन्तति होकर चली जायेंगी।

तथ्य और सत्य

असीम की वह आकुलता, जो ऋतुओ में वारवार फल और फूलों से पूर्ण होकर भी कभी निःशष नहीं होती, वह रूपदक्ष की चारूकला में आविर्भूत होकर हमारे चित्त पर अधिकार कर लेती है। असीम की वह आकुलता ही वह वेदना है, जो वेदों के अनुसार सारे आकाश को व्यथित किये हुये है। वह 'रोदसी 'क्रन्दसी'—वह वेदना रो रही है। सृष्टि का क्रन्दन रूप, आलोक और आकाश के नाना आवर्त्तनों में आवर्तित है। वह क्रन्दन सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, अणु-परमाणु, सुख-दुःख, जन्म-मरण में है सारे विश्व का वह क्रन्दन मनुष्य के अन्तर में भी है। समग्र आकाश का वह क्रन्दन एक सुन्दर जल-पात्र की रेखाओ में निःशब्द दिखाई पडता है। इस पात्र में असीम आकाश के अमृत निर्झर से रसधारा भरनी होगी, तभी शिल्पी की बुलाहट हुई, अव्यक्त की गम्भीरता से अनिर्वचनीय की रसधारा में। इसके द्वारा जो रस मनुष्य के पास आयेगा उससे तो उसके शरीर की तृष्णा नहीं मिटेगी। शरीर की प्यास मिटाने के लिये जो पानी है उसके लिए वैसा ही पात्र हो, कोई फर्क नहीं पडेगा। ऐसे अपूर्व पात्र की क्यों आवश्यकता है? इसका गठन, इसका रंग, कितना विचित्र है। इसे समय नष्ट करना कह कर प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। रूपदक्ष ने अपने चित्त को इस एक ही घट पर उडेल दिया है। आप कह सकते हैं, यह तो फ़िज़ूल खर्च हुआ। यह बात मैं भी मानता हूँ, सृष्टि के फिजूल खर्च के

विभाग में ही असीम की खास तहवील रहती है। वहाँ नाना रंगों की रंगिमा, रूप की भंगिमा, दिखाई पड़ती है। जो लोग मुनाफे का हिसाब रखते हैं वे कहते हैं, यह तो नुकसान हुआ, जो संन्यासी हैं वे कहते हैं, यह असंयम है। विश्वकर्मा अपनी हथौड़ी लिये कर्म-व्यस्त है, इधर देखने का उन्हें अवसर कहाँ ? विश्व-कवि इस फ़िजूल खर्च के विभाग में अपनी झोली बार-बार उड़ेलकर खाली कर देते हैं। फिर भी रस का व्यापार आज भी दिवालिया नहीं हुआ।

शरीर की पिपासा के अलावा भी मनुष्य की एक और पिपासा है। संगीत, चित्र, साहित्य मनुष्य-हृदय की उस पिपासा की ओर संकेत करते हैं। इसे भुलाया नहीं जा सकता कि वह अन्तरवासी एक की वेदना है। वह कहता है : मुझे रूप में, रंग में, वाणी में, नृत्य में, प्रकाश करो। जो जितना कर सको मेरी व्यक्त व्यथा को व्यक्त करो। यह व्याकुल प्रार्थना जिसके हृदय के गम्भीर स्थान पर आघात कर चुकी है वह आफिस का तगादा, हितैषी का कड़ा आदेश दूर फेंककर निकल पड़ता है। उसके पास कुछ नहीं होता। केवल एक तम्बूरा ही उसका सबल है। वह क्या करेगा यह नहीं मालूम। सुर-पर-सुर राग-पर-राग जो उसके अन्तर में बजाएगा, वह कौन है ? वह तो, विज्ञान जिसे प्रकृति कहता है, वह प्रकृति नहीं है। प्राकृतिक निर्वाचन के जमा-खर्च की बही में उसका हिसाब नहीं मिलेगा। प्राकृतिक निर्वाचन उसके जठर में हुक्म चला रहा है। किन्तु मनुष्य क्या पशु है जो प्राकृतिक निर्वाचन की चाबुक की मार से प्रकृति के निर्दिष्ट पथ पर चलेगा ? लीलामय मनुष्य प्रकृति को बुलाकर बोला : मैं रस में निमग्न हूँ, मैं तुम्हारा खिदमतगार नहीं हूँ, चाबुक तुम अपने पशुओं की पीठ पर मारो। मैं तो धनी नहीं होना चाहता, न ही मुझे पहलवान बनने की अभिलाषा है। मेरे भीतर वही वेदना है जो वेदना निखिल के अन्तर है। मैं लीलामय का शरीर हूँ।

यह बात जाननी पड़ेगी, कि मनुष्य क्यों चित्र आँकने बैठता है, क्यों

गाता है ? कभी-कभी अपने मन में जब गीत गाया है तो कीट्स की तरह मुझे भी एक गम्भीर प्रश्न ने व्याकुल किया है। मैंने पूछा है : यह केवल गाया है या इसका कुछ और अर्थ भी है ? गीत के स्वरों में अपने को वहा दिया, और दूसरे ही क्षण प्रत्येक वस्तु का मूल्य मानो बदल गया। जो अकिंचितकर था, वह भी अपरूप हो गया। क्यों ? क्योंकि गीत के स्वरों में अभी-अभी सत्य को देखा है। अन्तर में सर्वदा यह गीत का स्वर नहीं रहता, यह दृष्टि नही रहती, तभी सत्य तुच्छ होकर सरक जाता है। सत्य का प्रत्येक रूप ही अनिर्वचनीय है, इसे हम अनुभव नही कर पाते हैं। नित्य अभ्यास का स्थूल पर्दा उसकी दीप्ति को आवृत् कर देता है, सुर का वाहन हमें उस पर्दे के पीछे सत्य-लोक में ले जाता है—वहाँ पैदल नही जाया जा सकता, वहाँ जाने का रास्ता किसी ने आँखों से नही देखा है।

जरा अधिक कवित्व लग रहा है ? पाठक मन में सोच रहे होंगे, मात्रा अधिक हो रही है। अच्छा, इस विषय को सरल भाषा में समझाने की कोशिश करता हूं। हमारा मन जिस ज्ञान-राज्य में विचरण करता है वह दो-मुहा पदार्थ है। उसके एक ओर है तथ्य और दूसरी ओर है सत्य। जैसे है वैसे भाव का नाम है तथ्य, और यह तथ्य जिस का अवलम्बन करके रहता है, उसका नाम है सत्य।

मेरा व्यक्ति रूप मुझ में वद्ध में ही हूं। यह जो तथ्य है, यह अन्धकार का वासी है, यह अपने-आपको प्रकाशित नही कर सकता। जब कभी कोई इसका परिचय पूछेगा तो एक बड़े सत्य के द्वारा इसका परिचय देना पड़ेगा—वह सत्य जिसका आश्रय करके यह रहता है। मैं व्यक्तिगत मैं हूं इस तथ्य में, मैं मनुष्य हूं इस सत्य को जब प्रकाशित करता हूं, तब विराट एक के आलोक में मैं नित्यता से उदभासित हो उठता हूं। तथ्य में सत्य का प्रकाश ही प्रकाश है।

साहित्य और ललित कला का काम है प्रकाश करना, इसीलिए तथ्य के पात्र को आश्रय बनाकर हमारे मन को सत्य का स्वाद देना ही

उसका प्रधान कार्य है। यह स्वाद एक का स्वाद होता है। मैं व्यक्तिगत रूप से मैं हूं, यह मेरी सीमा की बात हुई, यहाँ मैं व्यापक एक से विच्छिन्न हू। मैं मनुष्य हूं, यह कहने पर मैं विराट एक के साथ युक्त होकर प्रकाशमान हूं।

चित्रकार जब चित्र आँकने बैठता है तो वह तथ्य का सवाद देने नही बैठता। तब वह तथ्य को उतना ही स्वीकार करता है जितने को उपलक्ष्य करके किसी सुषमा का छन्द विशुद्ध रूप में दिखाई दे सके। यही छन्द विश्व की नित्य वस्तु है, इसी छन्द के ऐक्यसूत्र में ही हम सत्य को देख पाते हैं। इस विश्वछन्द के द्वारा तथ्य यदि उद्भासित न हो तो वह हमारे निकट अकिंचितकर होगा।

गोधूलि की वेला में एक बालिका मंदिर से बाहर आयी, यह तथ्य देखने में अति सामान्य है। इस सवाद मात्र के द्वारा यह चित्र हमारे सामने प्रतिभासित नही होता, हम सुनकर भी नही सुनते, चिरन्तन एक के रूप में यह हमारे हृदय में स्थान नही पाता। यदि कोई वक्ता हमारे मन को आकर्षित करने के लिए बारबार इसी सवाद की पुनरावृति करे तो मैं विरक्त होकर कहूंगा : मानता हूं कि बालिका मन्दिर से बाहर आ ही गयी, किन्तु मुझे इससे क्या ? अर्थात् मैं अपने साथ इस घटना का कोई सम्बन्ध अनुभव नही कर रहा हू, इसलिए यह घटना मेरे निकट सत्य नही है। किन्तु जिस क्षण छन्द, स्वर और उपमा के द्वारा यह सामान्य बात ही एक सुषमा के अखण्ड ऐक्य के साथ युक्त हो गयी, मेरा यह प्रश्न भी शान्त हो गया, कि मुझे इससे क्या ?' कारण, सत्य का पूर्ण रूप जब हम देखते हैं तो उसे व्यक्तिगत सम्बन्ध के द्वारा नही देखते सत्यगत सम्बन्ध के द्वारा ही उसकी ओर आकृष्ट होते हैं। गोधूलि की बेला में बालिका मन्दिर से बाहर आयी, इस बात को यदि सम्पूर्ण करना पडे तो और भी बहुत कुछ कहना पडेगा। कवि यह कह सकते हैं, उस समय बालिका को भूख लगी थी और मन-ही-मन एक विशेष मिष्टान की बात सोच रही थी। उस समय, सम्भव है, यह चिन्ता

ही वालिका के मन में प्रवल हो। किन्तु तथ्य सग्रह करना कवि का काम नहीं है। इसलिए वडी वडी-वातों की छटाई हो जाती है। तथ्य का वाहुल्य वर्जित होते ही सगीत के बन्धन में छोटी वात भी उत्कर्ष से परिपूर्ण हो जाती, कविता सम्पूर्ण और अखण्ड मालूम होती है और पाठक का मन सामान्य तथ्य के भीतर के सत्य को गम्भीर भाव से अनुभव करता है। इस सत्य के ऐक्य का अनुभवमात्र ही हमें आनन्द' देता है।

अर्थात् गुणी चितेरा जव किसी घोडे को आँकता है तो वर्ण, रेखा और सस्थान के द्वारा एक सुषमा का उद्‌भासन करके उस घोडे को सत्य रूप में हमारे सामने उपस्थित करता है, तथ्य के रूप में नही। उसमें से फ़ालतू खुचुरवाद चली जाती है। एक चित्र अपने निरतिशय ऐक्य को प्रकाशित करता है। तथ्यगत चोले के आत्म त्याग के कारण ही यह ऐक्य वाधा मुक्त होकर विशुद्ध रूप में व्यक्त होती है।

किन्तु तथ्य की सुविधा यह है कि उसकी परीक्षा सहज ही में की जा सकती है। घोडे का चित्र घोडे जैसा ही हुआ है, इसे प्रमाणित करने में देर नही लगेगी। घोडे के चित्र को यदि केवल घोडे के रूप में ही दिखाया जाय तो हिसाब मिल जायगा और यदि उसे उपलक्ष्य करके चित्र वनाना ही लक्ष्य हो तो हिसाव की वही बन्द कर देनी पडेगी।

वैज्ञानिक जव घोडे का परिचय देना चाहता है तो उसे एक श्रेणीगत् सत्य का आश्रय लेना पडता है। यह घोडा क्या है? एक विशेष श्रेणी का स्तनपायी चतुष्पद प्राणी। ऐसी व्यापक भूमिका में घोडे को लाने के सिवाय और कोई रास्ता नही रहता।

साहित्य और कला की भी एक व्यापक भूमिका है। साहित्य और कला में जो वस्तु सत्य है उसका प्रमाण होता है रस की भूमिका में। अर्थात् वह वस्तु, यदि ऐसा एक रूपरेखा और गीत की सुषमा-युक्त ऐक्य पा सके जिससे हमारा चित्त आनन्दित होकर उसे सत्य के रूप में स्वीकार करले तो उसका परिचय सम्पूर्ण होगा। ऐसा यदि न हो और तथ्य के हिसाव से वह वस्तु पूर्ण हो तो अरसिक भले ही उसे

वरमाल पहनाये परन्तु रसिक व्यक्ति तो उसे वर्जित ही रखेगा।

किसी जापानी चित्रकार के एक चित्र में देखा कि एक मूर्ति के सामने सूर्य तो है किन्तु पीछे छाया नही है। ऐसी अवस्था में एक लम्बी छाया पड़ती है, यह बात एक छोटा बच्चा भी जानता है। किन्तु वस्तु-विद्या की जानकारी देने के लिये तो चित्र की सृष्टि नही हुई है। कला रचना में भी जो लोग भयभीत रहते हैं वे कैसे चित्रकार हैं। अतः रूप के क्षेत्र में रस को प्रकाशित करने के लिए तथ्य का वर्णन करना पड़ता है। एक दृष्टान्त दूं .

खोका एलो नाये
लाल जुतुआ पाये।

जूता तथ्य की श्रेणी में पडता है--इस में कोई सन्देह नही है। मोची की दूकान पर अपनी पसन्द का जूता हर व्यक्ति खरीद सकता है, किन्तु जुतुआ ? मोची तो दूर रहा, विलायती दूकान के बड़े बाबू भी इसकी जानकारी नही रखते। जुतुआ की जानकारी रखती है मा और रखता है बच्चा !

कविता में जिस भाषा का व्यवहार होता है उसके प्रत्येक शब्द का कोश में निर्दिष्ट अर्थ मिलेगा। वह विशेष अर्थ ही शब्द की तथ्य-सीमा है। इस सीमा को छोडकर शब्द के भीतर से असीमता को प्रकाशित करना होगा। तभी तो इतने संकेत, इतने कौशल और इतनी भंगिमाएँ होती हैं। ज्ञानदास का एक पद याद आरहा है—

रूपेर पाथारे आँखि डुबिया रहिल-
यौवनेर वने मन पथ हाराइल ।

तथ्य वागीश इस कविता को सुनकर कहेंगे, क्या बकवास है, रूप का पाथार क्या होता है ? और आँख यदि डूब ही गयी तो रूप देखोगे कैसे ? और यौवन का वन किस देश में है ? वहाँ का रास्ता किसे मिलता है और पथभ्रष्ट कौन अभागा होता है ? जो लोग तथ्य ढूंढ़ते हैं उन्हें यह समझना होगा कि निर्दिष्ट शब्द के निर्दिष्ट अर्थ ने

जो दुर्ग बना रखा है, छल, बल तथा कौशल से उसी में छिद्र करके सत्य को देखना होगा। दुर्ग की पथरीली दीवाल देखना तो कवि का काम नहीं है।

जो लोग तथ्य की ओर दृष्टि रखते है, उनके हाथों से कवियो की कैसी दुर्गति होती है इसका एक दृष्टान्त दूँ। मैंने कविता में एक बौद्ध कहानी लिखी है। उसका विषय यह है—

एक दिन प्रभात में अनाथपिंडद भगवान् बुद्ध के नाम पर श्रावस्तपीपुरी में भिक्षा माँग रहे थे। धनिको ने धन दिया, श्रेष्ठियों ने मणि-माणिक्य दिये, राजगृह की वधुओं ने हीरे-मुक्तों से जडित आभूषण दिये। किन्तु यह धन-रत्न पडा रहा, भिक्षा की झोली के भीतर नही गया। अनाथपिंडद ने एक भिक्षुक कन्या को देखा। उसके तन पर एक जीर्ण चीर के सिवाय और कुछ नही था। वृक्ष की आड में होकर उस भिक्षुक कन्या ने अपने तन का अन्तिम वस्त्र उतार कर भगवान् बुद्ध के नाम पर दान कर दिया। अनाथपिंडद् बोले—बहुत लोगो ने बहुत कुछ दिया है, लेकिन अपना सर्वस्व किसी ने नही दिया। अब मेरे प्रभु के योग्य दान मिला है, मैं धन्य हो गया।

एक प्रवीण, विज्ञ एव धार्मिक ख्यातिवान् व्यक्ति इस कविता को पढकर बोले, यह तो लडके-लडकियों के पढने लायक कविता नही है। हाय मेरा भाग्य! बौद्ध धर्मग्रन्थ से कथासार ले आया, फिर भी साहित्य की आबरू नष्ट हो गयी! नीति-निपुण की दृष्टि में तथ्य ही बडा हुआ, सत्य पर आवरण पड गया। हाय रे कवि! पहले तो भिखारिन से दान लेना ही तथ्य के हिसाब से अधर्म हुआ, फिर लेना था तो उसके हाथ की एकमात्र हडिया ही ले लेते जिससे साहित्य के स्वास्थ्य की तो रक्षा हो जाती। तथ्य की दृष्टि से यह बात नतमस्तक होकर माननी पडेगी। किन्तु सत्य के जगत् में स्वय भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य ने ऐसी भिक्षा ग्रहण की है और भिखारिन ने ऐसी भिक्षा दी है। उसके बाद वह

लडकी उस अवस्था में किस प्रकार घर लौटकर जायेगी, यह तक सत्य के जगत् से सर्वथा विलुप्त हो गया है।

तथ्य का इतना बडा अप-लाप घटता है और सत्य तनिक भी खराब नहीं होता—साहित्य क्षेत्र में ऐसा ही होता है। रस-वस्तु और तथ्य वस्तु का एक स्थान तथा एक ही मूल्य नही है। तथ्य जगत् की जो आलोक-रश्मि दीवाल से बाधा पाकर ठहर जाती है, रस जगत् की वह रश्मि स्थूल को भेद कर अनायास पार हो जाती है, उसके लिए मिस्तरी बुलाने या दीवाल फोड़ने की आवश्यकता नही होती। रसजगत् में भिखारी का जीर्ण चीर-चीर नही है, उसका मूल्य लखपति के सारे ऐश्वर्य से अधिक है।

तथ्य जगत् में एक अच्छा डाक्टर सभी ओर से एक योग्य व्यक्ति माना जा सकता है। किन्तु उसके पास पैसा और प्रतिपत्ति चाहे जितनी ही क्यो न हो, एक चौदह पक्तियो की कविता भी उस पर नही लिखी जा सकती। यदि कोई लिख ही बैठता है तो बडे डाक्टर पर लिखी गयी उस कविता की आयु चौदह दिन भी नही होगी। अतः रसजगत् की आलोक-रश्मि इतने बडे डाक्टर के भीतर से भी पार हो जाती है। किन्तु इस डाक्टर को जिसने तन-मन से चाहा है उसके पास डाक्टर ही रसवस्तु के रूप में प्रकाशित होता है। ऐसा होते ही डाक्टर का प्रेमासक्त अनायास ही कह सकता है :

जनम अवधि हम रूप नेहारनु
नयन न तिरपित भेल,
लाख लाख युग लिये हिये राखनु
तवु हिया जुडन न गेल। (विद्यापति)

आर्किक ने कहा है, लाख-लाख युग पहले डारविन के मतानुसार डाक्टर की पूर्व सत्ता क्या थी यह प्रसग उत्थापन करना नीति-विरुद्ध न होते हुए भी रुचि-विरुद्ध है। जो भी हो, असल बात यह है कि

डाक्टर की जन्म-पत्री में लाख-लाख युगो का श्रकपात हो ही नहीं सकता।

तर्क करना अनावश्यक है, शिशु भी इस बात को जानता है। डाक्टर का जन्म तो उस दिन हुआ है, किन्तु जो वधू है वह नित्यकाल के हृदय का धन है। वह किसी काल में नही था और किसी काल में नही रहेगा, यह बात वह सोच ही नही सकता।

ज्ञानदास ने कहा है

एक दुइ गणइते अन्त नाहि पाई,
रूपे गुणे रसे प्रेमे आरति बढाई।

एक दो का क्षत्र विभाग का क्षेत्र है। किन्तु रस सत्य के क्षेत्र में जिस प्राण की आरती बढती ही जाती है, वह अक के हिसाब से नही बढती।

अत काव्य या चित्र-कला के क्षेत्र में जो लोग सवक्षण-विभाग का मापदण्ड लेकर सत्य के चारो ओर तथ्य की सीमा खडी करना चाहते हैं, गुणियो ने उनकी ओर देखकर विधाता के पास फरियाद की है

इतर तापश तानि यथेच्छया
वितर हानि सहे चतुरानन।
अरसिकपु रसस्य निवेदन
शिरसि मा लिख, मा लिख, मा लिख।

साहित्य का वास्तविक स्वरूप

साहित्य के स्वरूप के बारे में अपने विचार पहले भी कहीं-कहीं व्यक्त कर चुका हूँ। ये विचार बाहरी अभिज्ञता या विश्लेषण से नहीं, बल्कि अन्तर की उपलब्धि से किये हैं। लेकिन किसका तगादा है, यही बात अपने से भी पूछता हूँ। कविता भीतर का तगादा है। उत्तर में जो मिला है उसे सहज रूप में समझाना सम्भव नहीं है। पंडितों के इस विषय पर जो बंधे हुए वचन जमा हो गये हैं, विषय के उठते ही वे आगे आना चाहते हैं। अपने उपलब्ध अभिमत को कहने के लिए उन्हें सरकाना पड़ेगा।

शुरू में ही सुन्दर को लेकर गोल-माल शुरू होता है। सुन्दर के बोध को बोधगम्य करना काव्य का उद्देश्य है, यह बात किसी उपाचार्य के कहते ही इसे मान लेने की इच्छा होती है किन्तु प्रमाण-संग्रह करते वक्त धोखा होता है। सोचता हूँ, सुन्दर कहते किसे है? कन्या को देखते वक्त वर के अभिभावक जिस दृष्टिकोण से कन्या को खड़ी करा कर देखते हैं, उसे चला कर, उसके केश खुला कर, उससे बात करके उसकी परख करते हैं, उस आदर्श को काव्य की परख करते वक्त यदि व्यवहार में लाया जाय तो पग-पग पर बाधा मिलेगी। यह स्पष्ट है कि फुलस्टाप से कन्दर्प की तुलना नहीं होती और साहित्य के चित्र-भंडार से कन्दर्प को बाद देने पर भी नुकसान नहीं है, नुकसान है फुलस्टाप को बाद देने पर। यह देखा गया है कि सीता का चरित्र रामायण में महा-

मान्वित है किन्तु स्वय वीर हनुमान, उनकी जितनी बडी पूँछ है, उतनी ही वडी मर्यादा उन्हें मिली है। ऐसे सशय के वक्त कव की वाणी याद आती है, सत्य ही सुन्दर है। किन्तु सत्य में सौंदर्य का रस तभी पाते हैं जव अतर में उसकी निविड उपलब्धि होती है। ज्ञान में नही स्वीकृति में। उसे ही वास्तव कहते हैं। सर्व गुणाधार युधिष्ठिर से हठकारी भीम वास्तव है, रामचन्द्र जो शास्त्र की विधि मानकर शान्त रहते हैं उनसे लक्ष्मण वास्तव हैं जो अन्याय न सहन कर सकने के कारण अग्नि शर्मा होकर उसका अशास्त्रीय प्रतिकार करने पर उतारू हैं। हम लोगों का काला कलूटा नौकर नील मणि, जिसे जो कहो उसका उलटा करता है, और धमकाने पर मृदु हसी हसकर कहता है भूल होगई, वह मूल्यवान पोशाक पहन कर वर के वेश में आने पर कैसा लगेगा यह वात तुच्छ है; लेकिन अनेक विख्यात लोगो से वह अधिक वास्तव है। यहाँ इस प्रसग में उसका नाम लेते हुए मुझे कुंठा हो रही है। अर्थात् यदि कविता लिखी जाय तो इसे किसी वाग्मी प्रवर गण-नायक के वदले नायक या उप-नायक वनाया जाय तो अधिक अच्छा होगा। अधिक परिचित होने पर ही वह वास्तव होगा, ऐसी वात नही है, किन्तु जिसे कम जानता हूँ फिर भी उसे ही अपारहार्य रूप से स्वीकार करता हूँ, वही मेरे लिए वास्तव है। क्यो स्वीकार करता हूँ, यह कहना कठिन है। फिर भी यह कहा जा सकता है वे जैव हैं। उन्हें आत्मसात करने में रुचि अथवा इच्छा की वाधा हो सकती है लेकिन और कोई वाधा नही है। जैसे भोजन पदार्थ कोई कडवा है, कोई मीठा है कोई खट्टा है, इनके व्यवहार में तारतम्य रहने पर भी सभी में एक साम्य है कि वे जैविक हैं, देहतन्तु के निर्माण में उपयोगी हैं, शरीर के लिये ये हाँ की श्रेणी में हैं, स्वीकृति के दल में हैं, ना की गोष्ठी में नही।

ससार में हमारे चारो ओर इन हाँ-धर्मियो की एक मडली है। यही वास्तव का आवेष्टन है। उन्हें अपने साथ एकत्रित करके हमारी सत्ता अपने को विचित्र रूप से विस्तीर्ण करती है। वे केवल मनुष्य नही हैं।

कुत्ता, विल्ली, घोडा, तोता, टूटा हुआ तालाब, गोशाला के आँगन में एकत्रित खर की गंध, पड़ोस से वाजार की ओर जाती हुई गली, लोहार की दूकान से निकलती हुई हथौड़ी की आवाज, पुरानी ईंटों के स्तूप को भेद कर के जो पीपल का वृक्ष निकला है वह सड़क के किनारे पेड के नीचे प्रौढ़ो की वैठक, और भी न जाने क्या-क्या जो किसी भी इतिहास में नही है, किसी भूचित्र में अंकित नही है यह सव इस श्रेणी में है। इनके साथ पृथ्वी के चारो ओर से नाना भाषा के साहित्य लोक से वास्तवों का दल आकर मिला है। भाषा की सीमा को अतिक्रम करके इनमें से जिसके साथ भी परिचय होता है खुश होकर कहता है: वाह, वहुत अच्छा! अर्थात् ये मन और प्राण के साथ मिलते हैं। इनमें राजा हैं, वादशाह हैं, दीन-दुखी भी है, सत्पुरुष है, सुन्दरी है, लूला, लगड़ा, अधा भी है। इनके साथ हैं वे जो कभी भी किसी भी काल में विधाता के सामने नहीं आये, प्राणी तत्व और शरीर तत्व से जिनका कोई सम्वन्ध नही है, जो प्रचलित रीति-नीति की परवाह नही करते; और हैं वे जो ऐतिहासिक की पोशाक में यहाँ पर आते हैं: कोई मुगलों की-सी पगड़ी वाँधे हुए है तो किसी ने जोधपुरी पैजामा पहन रखा है, किन्तु जिनका वारह आना इतिहास जाली है और प्रमाण माँगने पर निर्लज्ज की तरह कहते हैं: डोन्ट केयर (परवाह नही)! पसद है या नही, यही देख लो। इसके अलावा है भावावेग की वास्तविकता, सुख-दुख, मिलन विच्छेद, लज्जा, भय, वीरत्व और कापुरुषता। ये साहित्य का वायुमंडल प्रस्तुत करते हैं। यहाँ रौद्र वृष्टि, यहाँ धूप छाँव, यहाँ कुहरा, यहाँ मरीचिका की चित्रकला। वाहर से मनुष्य का यह निजस्व सग्रह भीतर से मनुष्य को अपने साथ मिला कर सृष्टि करना यही उसकी वास्तव मडली है, विश्वलोक के वीच यही उसका अतरंग मानव-लोक है। इसमें सुन्दर, असुन्दर, वुरा, भला, सगत असंगत, सुरीला और वेसुरा सभी हैं। जव कभी अपने में ही वे ऐसा साक्ष्य लेकर आते है कि उन्हें स्वीकार करना ही पड़ता है तो आनन्द होता है। विज्ञान, इतिहास यदि उन्हें असत्य कहें तो कहें, मनुष्य अपने

मन की एकान्त अनुभूति से उन्हें निश्चित सत्य कहेगा। इस सत्य का बोध ही आनन्द देता है। यह आनन्द ही उसका अन्तिम मूल्य है। लेकिन किस तरह कहूँ कि सुन्दर के बोध का बोधगम्य करना ही काव्य का उद्देश्य है।

साहित्य का मूल्य

उस दिन अनिल के साथ साहित्य के मूल्य के आदर्श-के निरन्तर परिवर्तन के बारे में बातें हो रही थी। उस प्रसङ्ग में मैंने कहा था कि भाषा साहित्य का वाहन है, समय-समय पर भाषा का रूप बदलता है, इसीलिए इसकी व्यजना के अन्तर्गत केवल तारतम्य ही होता है। इसे और भी साफ समझाना जरूरी है।

मेरे जैसे गीति-कवि अपनी रचनाओ में विशेष रूप से रस का कार-बार करते हैं। युग-युग में लोगो के मुँह में इस रस का स्वाद बदलता रहता है और क्रमशः शुष्क नदी की तरह तले चला जाता है। इसलिए रस का व्यवसाय सर्वदा फेल होने पर ही उतारू रहता है। इसके गौरव से गर्व करने की इच्छा नहीं रहती। किन्तु यह रस की अवतारणा ही साहित्य का एकमात्र अवलम्बन नही है। इसकी और एक दिशा है, जिसे रूप-सृष्टि कहते हैं, जिसमें प्रत्यक्ष अनुभूति रहती है, अनुमान या ध्वनि की झंकार नही। बाल्यकाल में एक दिन अपनी किसी पुस्तक का नामकरण किया था—'छवि और गान'। सोचने पर यह मालूम हो जायगा कि इन दो शब्दो से ही सारे साहित्य की सीमा का निर्णय किया जा सकता है। छवि कोई गूढ़ वस्तु नही, वह स्पष्ट और दृश्यमान होगी। उसके साथ अगर रस का सम्मिश्रण हो तो भी उस रस के प्रलेप से वह धुँधली नहीं होगी। इसलिए उसकी प्रतिष्ठा दृढ़तर है। साहित्य में हमें मनुष्य-भाव के बहुत से अनुभव होते हैं, जिन्हें भूलते देर नही लगती। किन्तु

साहित्य में जहाँ मनुष्य मूर्ति-उज्ज्वल रेखाओं में अंकित है, वहाँ भूलने का रास्ता ही नही। इस गतिशील जगत् में जो कुछ भी चल-फिर रहा है, उसी के राज-पथ पर वह भी चलता है। इसीलिए शेक्सपियर के 'लुक्रिस' और 'भिन्स ऐण्ड एडोनिस' के काव्यों का स्वाद हमें आज अच्छा नही लग रहा है, यह कहें या नहीं कहें, किन्तु 'लेडी मैकबेथ' या 'किंग लीयर' अथवा 'एन्टनि ओ क्लिओपेट्रा' के बारे में यदि कोई ऐसा कहे तो कहूंगा कि उसकी रुचि का स्वास्थ्य खराब हो गया—उसकी अवस्था स्वाभाविक नहीं है। शेक्सपियर ने मानव-चरित्र की चित्रशाला का द्वार खोल दिया है, जहाँ युग-युग में लोग एकत्र होंगे। उसी तरह यह कह सकता हूँ कि 'कुमार-सम्भव' का हिमालय-वर्णन अत्यन्त कृत्रिम है। उसमें संस्कृत भाषा की ध्वनि-मर्यादा रह सकती है, किन्तु रूप की सत्यता एकदम नही है। किन्तु सखियों से घिरी हुई शकुन्तला सदा की है। उसे दुष्यन्त प्रत्याख्यान कर सकता है किन्तु किसी भी युग का पाठक नहीं। मनुष्य उठ रहा है। मनुष्य की अभ्यर्थना वह सभी युगों और सभी देशों में पायेगा। इसीलिए कह रहा था कि साहित्य क्षेत्र में रूप-सृष्टि का आसन खूब है। 'मिड्समर नाइट्स ड्रीम' नाटक का मूल्य कम हो सकता है, लेकिन 'फ्लेमस्टाफ' का प्रभाव बराबर अविचलित रहेगा।

जीवन महाशिल्पी है। वह युग-युग में, देश-देशान्तर में, मनुष्य को नाना भावों से चित्रित करता है। लाखों मनुष्यों का मुख मण्डल आज विस्मृति के अन्धकार में अदृश्य है लेकिन तो भी शत-सहस्र ऐसे हैं, जो प्रत्यक्ष हैं, इतिहास में जो आज भी उज्ज्वल हैं। जीवन का यह सृष्टि-कार्य यदि साहित्य में समुचित स्थान पाता है तभी वह अक्षय हो सकता है। उसी प्रकार का साहित्य धन्य है, धन्य है डानकूईजट, धन्य है 'रोबिन्सन क्रूसो'। हमारे घर ढह गये हैं, जीवन-शिल्पी की रूप रचना अंकित हो गयी। कोई-कोई धुंधली, अपूर्ण और असमाप्त और कोई-कोई उज्ज्वल। साहित्य में जहाँ कही जीवन का प्रभाव उस विशेष काल में प्रचलित कृत्रिमता को छोड़कर सजीव हो उठता है वही उसकी अमरता

है। किन्तु जिस प्रकार जीवन मूर्ति-शिल्पी है उसी तरह रसिक भी है। वह विशेष रूप से रस का भी व्यवसाय करता है। उस रस का पात्र यदि जीवन में अनुभूति नही पाता है, यदि वह विशेषकाल के विसेषत्व को ही प्रकाश करता है अथवा केवल रचना-कौशल का ही परिचय देता है तो साहित्य में उस रस का सचय विकृत हो, सूख कर मर जाता है। जिस रस के परिवेषरण में महारसिक जीवन के अकृत्रिम आस्वादन का दान रहता है, वहाँ रस के न्यौते में उपेक्षित होने का डर नही रहता। 'चरण-नखो पर गिर दस चाद रोये' इस पक्ति में वाक्‌चातुर्य तो है, किन्तु जीवन का स्वाद नही। लेकिन—

तोमार ऐ माथार चुडाय जे रंग आछे उज्ज्वल से रंग दिये रागा ओ आमार बुकेर कोचलि—(तुम्हारे उस मस्तक की चूडा में जो उज्ज्वल रंग है उसी रग से मेरे हृदय की कोचलि को रंग दो) इसमें जीवन का स्वाद है, नि.सशय इसे हम ग्रहण कर सकते हैं।

काव्य और छन्द

गद्य-काव्य को लेकर संदिग्ध पाठक के मन में यदि विचार उठता है तो इसमें कोई नवीनता नहीं।

यह मानना ही पड़ेगा कि छन्द में जो वेग है उसी वेग से इसमें वाक्य सरलता से हृदय में प्रवेश करते हैं। सिर्फ यही नहीं, अपने दैनिक व्यवहार में जिस गद्य का हम प्रयोग करते हैं काव्य का जगत् उससे दूर है। पद्य की भाषा-विशेषता इसे स्पष्ट करती है और तभी मन में उसकी रेखा अपने आप खिंच जाती है। मैं ऐसे काव्य की ही अन्तर अभ्यर्थना करता हूँ। संन्यासी के गैरिक वस्त्र इसी बात को स्पष्ट करते हैं कि वह गृही से पृथक है। तभी भक्त का मन उसके चरणों पर झुकता है, नहीं तो सन्यासी को भक्त के व्यवसाय में घाटे का डर रहता है।

किन्तु यह कहना आवश्यक है कि सन्यासी-धर्म का मुख्य तत्व उसके गैरिक वस्त्र नहीं, उसकी साधना की सत्ता है। इसे जो समझता है, गैरिक वस्त्र न भी हो तो उसका मन अधिक आकृष्ट होता है। वह कहता है कि मैं अपनी बोध-शक्ति द्वारा ही सत्य को जानूँगा, उस गैरिक वस्त्र से नहीं जो बहुत से असत्य दबा रखता है।

छन्द ही ऐकान्तिक रूप से काव्य हो, ऐसी बात नहीं। काव्य की जड़ है रस में, छन्द इसी रस का परिचय देता है। छन्द काव्य की दो प्रकार से सहायता करता है। इसमें हिलाने की एक स्वाभाविक शक्ति है और दूसरी बात यह है कि पाठक के मन में एक चिराभ्यस्त संस्कार रहता

ही है। इस संस्कार को बातें सोचने लायक है। एक समय छन्द को कई भागो में बांट कर पंक्तियां बनायी जाती थी। एक पंक्ति हर दूसरी पंक्ति से बराबर मिल जाती थी। यही एकमात्र प्रथा थी। उस समय हमारे कान भी वैसे ही अभ्यस्त थे। छन्दों में मेल रखना उस वक्त ज़रूरी था।

इसी वक्त माईकेल मधुसूदन ने छन्द में एक नया प्रयोग किया। इसे अमिताक्षर छन्द कहते हैं। इस छन्द में पंक्तियां ठीक ही हैं लेकिन छन्द का पदक्षेप सर्वदा सीमा छोड़ कर पडता है। अर्थात्, इसकी भगिमा पद्य की तरह है लेकिन व्यवहार पद्य रीति से भिन्न है। यह छन्द हमारे प्राचीन सस्कार के प्रतिकूल था।

सस्कार की अनित्यता का एक और दृष्टान्त है। एक समय कुल-बधू की सज्ञा थी, अन्तःपुरचारिणी। पहले जो कुल-स्त्रियां अन्त पुर से असकोच बाहर आई उन्होने साधारण के संस्कार को धक्का दिया था। इसीलिये उन्हें सदेह की दृष्टि से देखना, उनकी निन्दा करना, प्रहसन में उन्हें मजाक का विषय बनाना इत्यादि प्रचलित हुआ था। उन दिनो जो लड़कियां विश्वविद्यालयों में पुरुषो के साथ पढतीं, उनके बारे में पुरुष जैसा आचरण करते थे, वह याद ही है।

क्रमशः इस संज्ञा का परिवर्तन हो रहा है। कुल-स्त्रियां निस्संशय कुल-स्त्रियां ही हैं, यद्यपि अन्तःपुर के अवरोध से वे आज मुक्त हैं।

इसी तरह अमिताक्षर छन्द को आज कोई विरोधी नही मानता। पुराने विधान का यह लंघन कर गया है।

यह इसलिये हुआ कि उस समय अंग्रेजी पढे हुये पाठक शेक्सपियर और मिल्टन के छन्द को मानने पर मजबूर थे। अमिताक्षर को छन्द की जाति में लेने वाले के बारे में साहित्यिक सनातनियो ने कहा, यद्यपि यह छन्द चौदह अक्षरो को छोड़ जाता है तो भी पयार छन्द की लय को अमान्य नही करता। अर्थात् लय की रक्षा करके इस छन्द ने काव्य-धर्म की रक्षा की है।

अमिताक्षर छन्द के बारे में लोगों का इतना ही विश्वास है। उनका मत है कि पयार छन्द के साथ इसका यह सम्बन्ध अगर न रहे तो अमिताक्षर छन्द, छन्द ही न रहे। क्या हो सकता है और क्या नहीं हो सकता, ये दोनों बातें केवल होने पर निर्भर करती हैं, लोगों के अभ्यास पर निर्भर नहीं करतीं—यही बात अमिताक्षर छन्द ने प्रमाणित की है। आज गद्य-काव्य पर यह प्रमाणित करने का भार पड़ा है कि गद्य में भी काव्य का संचरण असाध्य नहीं है। अश्वारोही सैनिक भी सैन्य है और पैदल सैनिक भी—इनका मूलगत् भिन्न कहाँ है, जब कि युद्ध में विजयी होना ही दोनों का लक्ष्य है।

काव्य का लक्ष्य है हृदय-जय करना—चाहे वह पद्य के घोड़े पर सवार होकर हो या गद्य से चल कर। उस उद्देश्य की साधना की क्षमता से ही उसका विचार करना होता है। हारने पर ही हार है, वह चाहे घोडे पर सवार होकर हो या पैदल। छन्द में लिखने से ही कोई रचना काव्य नहीं हो सकती—इसके सहस्रों प्रमाण हैं। गद्य-रचना भी काव्य नाम रख लेने से कभी काव्य नहीं हो सकती, इसके लिए भी दृष्टान्तों का अभाव नहीं।

छन्द में एक सुविधा यह है कि छन्द में ही एक अपना माधुर्य है, और कुछ नहीं तो यही लाभ समझिये। सस्ती मिठाई में चीनी का परिमाण अधिक होता है और खोआ का कम, लेकिन जो भी हो मिठास तो अधिक रहती ही है।

किन्तु कुछ ऐसे लोग भी हैं जो बच्चों की तरह अधिक चीनी खाना पसन्द नहीं करते, मन लुभाने वाले माल-मसालों को छोड़ कर उन्हें शुद्ध वस्तु से अधिक लगाव होता है। वे यह कहना चाहेंगे कि असली काव्य छन्द या अछन्द में नहीं बल्कि उसका गौरव आन्तरिक सार्थकता में है।

गद्य हो चाहे पद्य, रचना मात्र का ही एक स्वाभाविक छन्द होता है। पद्य में वह प्रत्यक्ष और गद्य में अन्तर्निहित रहता है। उस निगूढ़

छन्द का पीड़न करने से ही काव्य को आहत करना होता है। पद्य में छन्द एक बनाये हुए नियम पर चल सकता है। लेकिन गद्य में ऐसी बात नही। गद्य में छन्द का परिमाण-बोध यदि सहज ही मन में न रहे तो अलंकार-शास्त्र की सहायता से भी इसकी दुर्गमता पार करना सभव नही है।

लेकिन बहुत से लोगो की यह धारणा है कि जैसे गद्य सहज है, उसी प्रकार गद्य-छन्द भी सहज है। और यह सहज का प्रलोभन ही अनिष्टकर होता है, इससे असतर्कता का अभाव होता है, असतर्कता कला-लक्ष्मी का अपमान करती है और कला-लक्ष्मी उसका बदला अकृतार्थता देकर लेती है। असतर्क लेखकों के हाथो में गद्य-काव्य अवज्ञा और परिहास का उपादान स्तूपीकृति करेगा-ऐसी आशंका है। किन्तु यह सहज बात कहनी ही पड़ेगी कि जो पदार्थ काव्य होगा, वह गद्य हो, तो भी काव्य है, और पद्य हो, तो भी।

अन्त में यही एक बात कहनी है कि काव्य प्रत्याहिक जगत की अपरिमार्जित वास्तविकता से पहले जितना दूर था, अब उतना नही। अब सब कुछ वह अपने रसलोक में ले लेना चाहता है—अब वह स्वर्गा-रोहण करते वक्त अपने साथ के कुत्ते को भी नहीं छोड़ता।

वास्तव जगत् और रस जगत् के समन्वय-साधन के लिये पद्य काम आयेगा, क्योकि गद्य शुचिवायु ग्रस्त नही।

साहित्य में आधुनिकता

भाषा की नाड़ी में साहित्य की प्राणधारा बहती है, उसे हिलाने से रचना का हृद्स्पन्दन बन्द हो जाता है। इस तरह के साहित्य में विषय-वस्तु निश्चेष्ट हो जाती है, यदि उस में सजीवता न हो तो। गाय का बछड़ा मर जाने से जब वह दूध नहीं देना चाहती तो मरे हुये बछड़े की खाल को उधेड़ कर उसमें घास-फूस भर कर एक कृत्रिम मूर्ति तैयार की जाती है। उसी की गन्ध से और चेहरे को देख कर गाय के स्तनों में दूध उतरता है। अनुवाद करना, वही मरे हुये बछड़े की तरह होता है, केवल छल करना। ये बातें मेरे ही पुराने अनुवादों को देख कर याद आती हैं। इससे मेरे मन में लज्जा और क्षोभ भी होता है।

साहित्य में मैंने जो काम किया है वह यदि क्षणिक और प्रादेशिक नहीं होता है तो जिसे आवश्यक हो वह जब भी चाहे मेरी भाषा में ही अपना परिचय पा सकता है। परिचय का और कोई रास्ता नहीं है। ठीक पथ पर यदि परिचय में देर लगे तो उसमें उसी का नुकसान होता है, वह वंचित रहता है, रचयिता का उसमें कोई दायित्व नहीं है।

प्रत्येक बड़े साहित्य में दिन और रात्रि की तरह क्रमशः प्रसारण और संकोचन की दशा आती है। मिल्टन के बाद ड्राइडेन-पोप का आविर्भाव हुआ था। हम जब पहले अंग्रेजी साहित्य के संपर्क में आये तो वह उसका प्रसारण का युग था। यूरोप में फ्रांसीसी विप्लव ने मानवोचित को जो आह्वान दिया था वह था, मुक्ति का आह्वान।

इसीलिये देखते-देखते उसे साहित्य में भी विश्वजनीन रूप मिला। वह मानो इस सृष्टि का एक सार्वजनीन यज्ञ हो। उस में सब देश के आगन्तुको को पूरा आनन्द भोग करने का अधिकार मिला। हमारा सौभाग्य समझो कि ठीक उसी वक्त सर्व मानव की मुक्ति की वाणी लेकर यूरोप ने हमारे पास आमन्त्रण भेजा। हमने भी आगे बढ़ने में देर न की। उस आनन्द में हमें भी नव-सृष्टि की प्रेरणा मिली। उसी प्रेरणा ने हमें विश्व की ओर पथ-निर्देश किया।

उस वक्त ऐसा लगा कि केवल विज्ञान ही नही, साहित्य-सम्पदा भी अपने उद्‌भव स्थान को छोड़ कर सब देश और काल में विस्तारित होती है। उसका दान यदि सीमाबद्ध होता है, यदि उसमें अतिथि-धर्म नही रहता है तो स्वदेश के लोगो के लिये चाहे वह कितना भी उपभोग्य हो, वह दरिद्र है। यह निश्चित जानते है कि अंग्रेजी साहित्य दरिद्र नही, उसकी सम्पत्ति स्वजाति की तिजोरी में बन्द नही है।

फ्रांसीसी विप्लव के जो अगवा थे, वे ही विश्व के मानविक आदर्श के प्रति विश्वासपरायण थे। धर्म ही हो, चाहे राज-शक्ति ही हो, क्षमता-लुब्ध और मानव-मुक्ति के रोड़ो के विरुद्ध ही उनका संग्राम था। इस विश्व-कल्याण की इच्छा से जो साहित्य था वह मुक्ति-द्वार स्वरूप सभी देश और मनुष्य के लिये था। वही रोशनी और आशा लाया था। इस बीच विज्ञान की सहायता से यूरोप की भूमि पर वैश्य-युग का आगमन हुआ। स्वजाति और परजाति के मर्म स्थल को विदीर्ण करके धनस्रोत यूरोप की इस नवोद्‌भव धनिक मंडली में बहने लगा।

अब चारो ओर ईर्ष्या और भेद-बुद्धि का प्रभाव यूरोप के अन्दर-ही-अन्दर फैलने लगा। और इस प्रभाव का भयकर रूप प्रकाशित होने में देर भी न लगी। एक प्रचण्ड अग्निमय स्राव यूरोप के हृदय में भभक पडा। इस युद्ध के मूल थे समाज ध्वंसकारी टीपू जिन्हें उदार मनुष्यत्व के प्रति विश्वास न था। इसलिये इस युद्ध का दान, दानव का दान था, जिसका विषैलापन शान्ति नही ला सकता।

लगों से यूरोप का चित्त संकुचित होता जा रहा है—सभी देश अपने दरवाजे मजबूत करने में व्यग्र हैं।

एक का अन्य के प्रति अविश्वास जब प्रबल हो उठता है तो उससे बड़ी असभ्यता मेरी दृष्टि में और कुछ नहीं है। राष्ट्रवाद को एक दिन हमने यूरोपवासी की पुण्य-साधना के लिये तप-भूमि के रूप में देखा था। सहसा देखा सब नष्ट हो रहा है। वहाँ के देश-देश में जनसाधारण के हाथ-पाँवों में बेड़ियाँ कठोर होने लगीं। राष्ट्र-नेताओं के रोम-रोम में हिंसा कूट-कूट कर भरी हुई थी। इसका कारण था लोलुपता, विषय-वृद्धि की भीरुता। इस डर से कि धन की दौड़ में कहीं नुकसान न हो जाय।

इसलिये बड़े-बड़े शक्ति-धरों के निकट देश के लोग अपना आत्म-सम्मान, अपनी स्वाधीनता, बेचने को तैयार हैं। यहाँ तक कि स्वजाति की चिरागत संस्कृति को ध्वंस होती देख कर भी शासनतन्त्र की बर्बरता को शिरोधार्य कर लेते हैं। वैश्य युग की यह भीरुता ही मनुष्य की मर्यादा के टुकड़े कर देती है।

आधुनिक अंग्रेजी साहित्य के बारे में मेरी सीमाबद्ध अभिज्ञता से मेरे जो अनुभव हैं, अधिकांश में वे शायद अज्ञता हो। इस साहित्य का साहित्यिक मूल्य बहुलांश में यथेष्ट हो सकता है—समय-समय पर उसकी परख होती रहेगी।

व्यक्तिगत रूप से मैं जो कह सकता हूँ, वह एक निर्दिष्ट सीमा से होगा।

आधुनिक अंग्रेजी काव्य-साहित्य में मेरा प्रवेशाधिकार अत्यन्त बाधाग्रस्त है। मेरे इस कथन का यदि कोई व्यापक मूल्य हो तो यही प्रमाणित होगा कि इस साहित्य में दूसरे नाना गुण रह सकते हैं, लेकिन एक गुण का अभाव है जिसे सार्वभौमिकता कहते हैं। अंग्रेजी साहित्य को तो हमने आनन्द के साथ सिर्फ ग्रहण ही नहीं किया, बल्कि

उससे हमारे यात्रा पथ में सहारा मिला है। उसका प्रभाव तो आज भी मन में है। रुद्ध द्वार यूरोप की दुर्गमता आज उसके साहित्य में अनुभव होती है। उसकी कठोरता मेरे निकट अनुदार लगती है। यहाँ से ऐसी वाणी नहीं मिलती जिसे सुन कर ऐसा लगे मानो मेरी ही वाणी हो, सदा की दैव वाणी हो जैसे।

हमारे देश के युवको में किसी-किसी को देखा है, आधुनिक अंग्रेजी काव्य को सिर्फ समझना ही नहीं बल्कि उसे हृदयंगम करना भी जानते हैं। इसलिये यूरोप का आधुनिक साहित्य इनके और भी निकटतर हो सकता है। अस्तु, इनके मन्त्र को ही इस साहित्य के बारे में मूल्यवान समझ कर श्रद्धा होती है। फिर भी एक संशय मन में रह जाता है।

मैं यह कहता हूँ कि विज्ञान मनुष्य के निकट प्राकृतिक सत्य है जो ज्ञान की भित्ति को बदलता रहता है, किन्तु मनुष्य का आनन्द-लोक समय-समय पर अपना सीमान्त अवश्य विस्तार कर सकता है, लेकिन भित्ति नहीं। सौन्दर्य, प्रेम, महत्त्व जिससे मनुष्य स्वभावतः उद्बोधित हुआ है, उसकी उम्र की सीमा नही है, कोई आइन्स्टाइन आकर उसे अप्रतिपन्न नही कर सकता या यह नही कह सकता 'वसन्त के पुष्पोच्छ्-वास में जिसे आनन्द होता है वह किसी जमाने का फिलिस्टाइन है।'

यदि किसी विशेष युग के आदमी यह कहने लग जाय, यदि सुन्दर को विद्रूप करने में उन्हें कोई हिचक न हो, यदि पूजनीयों को अपमानित करने का उग्र उत्साह उनमें हो तो यह कहना होगा, यह मनोभाव चिरन्तन मानव-स्वभाव के विरुद्ध है। साहित्य सब देश में यही प्रमाणित करता है कि मनुष्य का आनन्द-निकेतन सब से पुराना है। कालिदास के मेघदूत में मनुष्य अपने चिरपुरातन विरह-वेदना का ही स्वाद पाकर आनन्दित है। उसी चिरपुरातन का चिरनूतन रूप वहन करता है मनुष्य का साहित्य, मनुष्य की शिल्प-कला। इसीलिये मनुष्य का साहित्य, मनुष्य की शिल्पकला सर्वमानवीय है। तभी बार-बार मेरे मन में यही बात उदय होती है, कि वर्त्तमान अंग्रेजी-काव्य उद्भूत भाव से प्राचीन है, पुरातन के

विरुद्ध विद्रोही भाव से नवीन। लेकिन इस नवीनता की सम्भावना करके यह नहीं कह सकता

जनम अवधि हम रूप नेहारल
नयन न तिरपित भेल,
लाख-लाख युग हिये-हिये राखल
तव हिया जुड़न न गेल।

उसे सचमुच नवीन समझ कर रस में न पड़े, यह अपने जन्म-मुहूर्त से ही जरा लेकर आया है, उसके जन्म-व्यापार पर जो ग्लानि है वह चाहे जितना ही उज्ज्वल हो, लेकिन आखिर है तो ग्लानि ही।

साहित्य और सभ्यता

आप लोगों ने देखा होगा कि विलायती पत्रो में आजकल साहित्य-रस का विशेष अभाव देखा जा रहा है। आदि से अन्त तक केवल राज-नीति और समाज-नीति ही रहती है। मुक्त वाणिज्य, कपड़े की दूकान, सूदान की लड़ाई, घूँस लेने के बारे में नया कानून आदि की चर्चा ही अधिक रहती है। अच्छी रचनायें बहुत कड़े दामो में मिलती हैं। इससे साहित्य का सम्मान होता है या साहित्य की दुर्मूल्यता प्रमाणित होती है, यह कोई नही कह सकता। 'स्पेक्टेट्र रणम्वलर' प्रभृति पत्रो से आज के पत्रों की तुलना करके देखिये कि उस वक्त साहित्य का कितना प्रबल नशा था! जेफ्रि, डिकुइन्स, हैजलिट्, आदि। लेहैन्ट, लैम्ब के समय में भी साहित्य की निर्झरिणी कैसी अवोध गति से प्रवाहित होती थी! किन्तु आधुनिक अग्रेजी पत्रो में साहित्य की गति रुद्ध क्यों दिखती है? ऐसा लगता है कि पहले से साहित्य का मूल्य बढ रहा है, किन्तु उसकी खेती कम हो रही है। इसका क्या कारण है?

मैं समझता हूँ कि इंग्लैंड में काम-काज की भीड़ अधिक हो गई है। राज्य और समाजतंत्र अधिकतर जटिल होता जा रहा है। इतनी वर्त-मान समस्याओं में, इतनी बातें जमा हो रही हैं कि जो नित्य है, जो मानव की चिर-काल की वाणी हैं, जिन अनन्त प्रश्नों की मीमासा का भार एक युग अन्य युग पर अर्पण करके चला जाता है, मानव-आत्मा की गभीर वेदना प्रकाशित होने का अवसर नही पाती। चिर-नवीन चिर-प्रवीण प्रकृति अपना निविड़ रहस्य-मय सौंदर्य लिये

पहले की तरह ही बह रहा हो, चारों ओर वह श्यामल गाछ-पल्लव, काल की गुनगुन रहस्य कथा की तरह पवन की वह गम्भीर ध्वनि, नदी की वह अपार् मय और स्थिर अवसर पूर्ण अनायास शान्ति, प्रकृति की अविराम विचित्र वाणी अभी भी निःशेष नहीं हुई है। किन्तु जिसे आफिस की जल्दी है, फाइलों में जिसका मन उलझा पड़ा है, वह कहेगा: 'दूर करो तुम्हारी प्रकृति का कारण, तुम्हारा समुद्र और आकाश, तुम्हारा मानव, हृदय और उसका सहयात्री सुख, दुःख घृणा और प्रीति, तुम्हारा महान मनुष्यतापूर्ण का आदर्श और गम्भीर रहस्य पिपासा, इस वक्त हिसाब छोड़ कर और कुछ नहीं हो सकता।' मैं समझता हूँ कि कल-कारखानों की हलचल में अंग्रेज लोग विश्व-संगीत-ध्वनि के प्रति मनोयोग नहीं दे पा रहे हैं, उनकी उपस्थित समस्याएं ही टिड्डी-दल की तरह सारा काल को आच्छन्न कर रही हैं।

सृष्टि के साथ साहित्य की तुलना होती है। इस असीम सृष्टि का कार्य असीम अवसर में निमग्न है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह नक्षत्र आदि पद्म की तरह धीरे-धीरे विकसित हुये हैं। कार्य का अन्त नहीं है और जल्दी भी नहीं है। वसन्त के एक शुभ प्रभात के लिये शुभ चमेली सृष्टि के किसी अन्तःपुर में बैठी होगी, वर्षा की मेघस्निग्ध संध्या के लिये एक शुभ जूही एक वर्ष तक अपना पूर्व जन्म यापन करती है। साहित्य भी उसी तरह अवसर में जन्म लेता है। इसके लिय बहुत सा आकाश, बहुत-सा सूर्य-लोक, बहुत-सी श्यामल भूमि की आवश्यकता होती है। कार्यालय के पक्के फर्श को भेद कर जिस तरह माधवी लता की बेल नहीं निकल सकती, उसी तरह साहित्य भी हर कहीं से नहीं उगता है।

उत्तरोत्तर व्यापमान विस्तृत राजभार, जटिल कर्त्तव्य शृङ्खला, असख्य राजनैतिक मतभेद और क्रूर तर्क, वाणिज्य का जूआ, जीवन-संग्राम आदि से अंग्रेज का मानव-हृदय भरा हुआ है। उसमें और स्थान नहीं है, साथ ही समय भी नहीं है। साहित्य के बारे में यदि कुछ कहना है तो सक्षेप में कहो, और सक्षेप में ही लिखो। प्राचीन साहित्य और

विदेशी साहित्य से सार-सकलन कर के उसी से काम चलाओ। किन्तु साहित्य का सार संकलित नही किया जा सकता। इतिहास, दर्शन, विज्ञान आदि का सार-संकलन किया जा सकता है। मालती लता को ऊखल में कूट कर उसका पिंड बना लिया जाय तो उसे मालती लता का सार नही कहा जा सकता। मालती लता का हिल्लोल, उसका बाहु-बंधन, उसकी प्रत्येक शाखा-प्रशाखा की भगिमा, उसका पूर्ण योवनभार, खरल में कूटना अग्रेज के लिए भी असाध्य है।

यह प्राय ही देखा जाता है कि जिसके कधो पर अतिरिक्त कार्य-भार रहता है वह थोड़ा नशे का आदी होता है। काम के बाद जो थोड़ी सी फुर्सत मिलती है उसमें उत्कट आमोद न करने पर तृप्ति नही मिलती जैसा उत्कट कर्म रहता है, वैसा ही उत्कट आनन्द भी तो होना चाहिये। किन्तु विशुद्ध साहित्य में नशे की तीव्रता नही होती। बढिया पेड़े में जैसे अधिक चीनी नहीं रहती, उसी तरह उन्नत साहित्य में प्रचड वेग और माधरी तो रहती है लेकिन उग्र मादकता नही रहती। इसी लिये अतिशय व्यस्त लोगो के पास साहित्य का आदर नही पाता। उन्हें नशा चाहिये। इग्लेंड में देखो, खबर का नशा है। इस नशे की हम कल्पना भी नही कर सकते। खबर पाने के लिये लोगो में एक तरह की भगदड-सी लगी रहती है। जिस खबर को दो घण्टे बाद पाने में भी कोई नुकसान नही होता, उसे दो घटे पहले प्राप्त करने के लिये- इग्लेंड अपना धन-प्राण विसर्जन कर रहा है। सारी पृथ्वी की खबरें ढूंढ-ढूढकर इग्लेंड अपने द्वार पर स्तूप खडा कर रहा है। उन खबरों को प्रतिदिन इग्लैंड वासी आबालवृद्ध व पिता सुबह की चाय के साथ परम आनन्द से उपभोग करते हैं। दुर्भाग्य से साहित्य में ऐसी कोई खबर नहीं मिलती। क्योंकि अधिकांश साहित्य में ऐसी खबरें ही रहती हैं जिन्हें अधिकांश लोग जानते हैं।

उपस्थित घटनाओ में जैसा नशा रहता है, स्थायी विषय में वैसा नहीं रहता। किसी परिवार का गृह युद्ध जितना बड़ा लगता है, कुरुक्षेत्र

का युद्ध भी उतना नही लगता। जब किसी सस्था के मन्त्री महोदय, काली अचकन पहन कर, हाथ में छाता और सर पर गांधी टोपी लगा-कर, चंदे का खाता लिये इधर-उधर देखते हैं तो लोग यह सोचते हैं कि दुनिया के सारे काम-काज बन्द पडे हैं। जब कोई आर्य, किसी अन्य आर्य को अनार्य प्रमाणित करने के लिये गला फाडता है तो यह भूल जाता है कि उसकी सभा के बाहर भी कोई जगत् था और अब भी है। इग्लेड में न मालूम और भी क्या-क्या हो रहा है। वहाँ विश्वव्यापी कारखाने और देश व्यापी दलादली लेकर न जाने कैसी मत्तता चल रही है वहाँ यदि वर्तमान ही दानव का आकार लेकर नित्य को ग्रास करने लगे तो क्या आश्चर्य है।

वर्तमान के साथ अनुराग से सलग्न होकर रहना तो मनुष्य का स्वभाव और कर्त्तव्य है। इसे कोई अस्वीकार नही कर सकता ' किन्तु वर्तमान की अतिशयता से मनुष्य का सब कुछ दब जाना ही ठीक नही है। वृक्ष का थोडा-सा हिस्सा जमीन के भीतर रहना चाहिए, यह जान कर सारे वृक्ष को ही जमीन में गाड देना ठीक नहीं है। उसके लिये बहुत सा मुक्त स्थान और आसार चाहिये। जिस जमीन में मानव निक्षिप्त हुआ है, उसे भेद कर बहुत ऊपर उठना पडेगा तभी उसके मनुष्यत्व की साधना होगी। किन्तु क्रमागत ही वह यदि तल पर पडा रहे, उस पर धूल का ढेर जमा होता रहे, उसे यदि आकाश में उठने का अवसर ही नही मिले तो उसकी क्या दशा होगी ?

जिस प्रकार बद्ध गृह में रहने पर मुक्तवायु आवश्यक है, उसी तरह सभ्यता के सहस्र बधन की अवस्था में विशुद्ध साहित्य की भी आवश्यकता होती है। सभ्यता के नियम, सभ्यता का कृत्रिम बधन जितना ही जटिल होता है—हृदय का हृदय से स्वाधीन मिलन, प्रकृति के अनत क्षेत्र में कुछ देर के लिये लिप्त हृदय की छुट्टी भी उतनी ही आवश्यक होती है। साहित्य ही वह मिलन का स्थान है, साहित्य ही मानव-हृदय में उस ध्रुव असीम का विनाशहै। (बहुत से पडित ऐसी भविष्यवाणी करते हैं कि

सभ्यताके विस्तार के साथ साथ साहित्य का विनाश होगा। सिर्फ पक्का रास्ता ही मनुष्य के लिये आवश्यक हो, ऐसी बात नही है, श्यामल क्षेत्र उससे भी अधिक आवश्यक है। प्रकृति में सर्वत्र पत्थर से यदि पक्की सड़कें बनादी जाए तो सभ्यता की वृद्धि में सदेह नही रहता, किन्तु यह अतिवृद्धि ही उसके सर्वनाश कारण होती है।

लन्दन का शहर अत्यन्त सभ्य है, यह कौन अस्वीकार कर सकता है किन्तु यह लन्दन रूपी सभ्यता यदि दैत्यशिशु की तरह बढती रहे और सारे द्वीप पर छा जाय तो वहाँ मानव कैसे ठहर सकता है। मानव तो किसी वैज्ञानिक का बनाया हुआ यत्र नही है।

दूर से इग्लैंड के साहित्य और सभ्यता के बारे में कुछ कहना मेरे लिये अनधिकार चर्चा है। और इस विषय पर अभ्रान्त विचार करना भी मेरा उद्देश्य नही है और न मुझ में वैसी योग्यता ही है। मैंने केवल दो एक लक्षण दे कर, राज्य की अभ्यन्तरीण अवस्था से लिप्त न रह कर, बाहरी आदमी के मन में जो विचार सहसा उत्पन्न होते हैं, उन्हें ही लिखा है और इस अवसर पर साहित्य के बारे में अपने विचार और भी स्पष्ट रूप में व्यक्त किए है।

साहित्य का उद्देश्य

विषयी लोग विषय की खोज में रहतेहैं। लेख देखते ही पूछते हैं, विषय क्या है ? लेकिन लिखने के लिये विषय ही चाहिये, ऐसी कोई बात नहीं है। विषय हो तो ठीक है, न रहे तो भी ठीक है। साहित्य का इस में कोई नुकसान नहीं है। विशुद्ध साहित्य का प्राण विषय में नही रहता है प्रकृत साहित्य में से उसका केवल उद्देश्य निकाल लेना सरल नही है। मनुष्य के सर्वांग में प्राण का विकास है—इस प्राण को नष्ट करने के लिये विभिन्न देशो में नाना प्रकार के अस्त्र हैं किन्तु देह में से केवल प्राण को स्वतन्त्र रूप में निकाल सके, ऐसा कोई अस्त्र नही निकला है।

हमारी भाषा के साहित्य समालोचक-गण आज कल लेख देखते ही उसका उद्देश्य बाहर खींच लाना चाहते हैं। मेरी समझ में इसका प्रधान कारण यह है कि कोई एक उद्देश्य मिले बगैर इन्हें लिखने का मसाला नहीं मिलता है। जो गुरूजी बाल पकड़ कर नोचते हैं, सहसा छात्र का मुंडित मस्तक उनके अत्यन्त शोक का कारण हो जाता है।

यदि आप अत्यन्त बुद्धि के प्रभाव से कह बैठते हैं, यह 'तरंग भंगमय' यह चूर्ण-विचूर्ण सूर्यलोक से खचित, अविश्राम प्रवाहमान जाह्नवी का सारा पानी सोख कर केवल दूसरा विषय ही लूंगा, और इस उद्देश्य से प्रबल अध्यवसाय के साथ आप यदि जाह्नवी का पानी निकालने लगें तो इस परिश्रम के पारिश्रमिक स्वरूप विपुल वाष्प और पंक के अधिकारी होंगे—किन्तु कहाँ तरंग, कहाँ सूर्य-लोक। कहाँ कल-ध्वनि ! कहाँ जाह्नवी का प्रवाह !

उद्देश्य को टटोलने से कुछ न कुछ जरूर मिलता है। जैसे गंगा के नीचे ढूँढने पर उसके कीचड में से भी मछली मिल सकती है। धीवर के लिये क्या यह कम लाभ है ? किन्तु मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि मछली न रहने पर भी गंगा मे मूलगत कोई प्रभेद नही होता। लेकिन गंगा में प्रवाह नही है, गगा में तरग नही है, गगा की प्रशान्त प्रबल उदारता नही है, ऐसा यदि गगा का रूप है, तो वह गगा ही नही है। फिर प्रवाह को आयत्त नही किया जा सकता, गंगा का प्रशान्त भाव केवल अनुभव किया जा सकता है—किसी तरह भी उसे जमीन पर नही लाया जा सकता। उपयुक्त मछली को गगा में साधारणतः सहज में पकडा जा सकता है। अतः विषयी समालोचक के लिये मछली का हिसाव करना ही सवसे सुविधाजनक है।

विशुद्ध साहित्य में उद्देश्य के रूप में जो चीज सामने आती है, वह आनुषगिक है। और वह क्षणस्थायी है। जिसका उद्देश्य है उसका दूसरा नाम, अथवा कोई एक विशेष तत्त्व का निर्णय या किसी एक विशेष घटना का वर्णन—जिस साहित्य में उद्देश्य मुख्य है उसकी प्रकृति के अनुसार उसे दर्शन-विज्ञान या इतिहास अथवा और भी कुछ कहा जा सकता है। किन्तु उसमें साहित्य का उद्देश्य नही है।

ऐतिहासिक रचना को कव साहित्य कहेंगे ? जब यह निश्चित हो जाय कि उसका ऐतिहासिक अश मिथ्या प्रमाणित होने पर भी वह जीवित रह सकती है। अर्थात् जब यह जान लेंगे कि इतिहास केवल उपलक्ष्य है, लक्ष्य नही। दार्शनिक, वैज्ञानिक प्रभृति अन्य विभागो पर भी यह नियम लागू होता है।

सृष्टि का उद्देश्य पाया नही जाता, निर्माण का उद्देश्य पाया जा सकता है। फूल क्यो खिलता है, यह अनुभव करना क्या साध्य है ? किन्तु ईंट की भट्टी क्यो जलती है, सिमेंट का कारखाना क्यो चलता है, यह सभी जानते हैं। साहित्य भी उसी तरह सृजन-धर्मी है; दर्सन,

विज्ञान प्रभृति निर्माण-धर्मी हैं । सृष्टि की तरह साहित्य ही साहित्य का उद्देश्य है।

यदि कोई उद्देश्य ही नहीं है तो फिर साहित्य से फायदा क्या ? जो लोग सब से अधिक हिसाब समझते हैं, वे ऐसा प्रश्न पूछेंगे । लेकिन इसका उत्तर देना सरल नहीं है। थोड़े से लड्डू खाने से ही रसना की तृप्ति और उदर की पूर्ति होती है, इसे प्रमाणित करना सरल है, और यदि कोई इसमें सदेह प्रकट करता है अथवा अज्ञान वश प्रतिवाद करता है, तो उसके मुँह में दो लड्डू भर कर तत्क्षण उसका मुँह बद कर दिया जा सकता है । किन्तु समुद्र के किनारे रहने पर एक विशाल आनन्द शरीर और मन में अलक्षित रूप में प्रवेश करके स्वास्थ्य वर्द्धन करता है, इसे हाथो-हाथ प्रमाणित नहीं किया जा सकता ।

साहित्य के प्रभाव में हम हृदय के द्वारा हृदय के योग का अनुभव करते हैं, हृदय के प्रवाह की रक्षा होती है, हृदय से हृदय खेलता है और हृदय का जीवन और स्वास्थ्य सचालित रहता है। युक्ति-शृङ्खला से मानव की बुद्धि और ज्ञान में ऐक्यबधन होता है । किन्तु उन्हें हृदय से बाँधने का कोई कृत्रिम उपाय नहीं है। साहित्य स्वत उत्साहित हो कर यह योग-साधन करता है। साहित्य का अर्थ ही एकत्र रहने का भाव है। मानव के 'सहित' रहने का भाव—मानव को स्पर्श करना, मानव को अनुभव करना ही उसका काम है। साहित्य के प्रभाव से हृदय-हृदय में शीतातप का सचार होता है, वायु का प्रवाह, ऋतु और वर्षों का आवर्त्तन होता है, गीत और गध का बाजार-सा लग जाता है।

हम जब अपने मित्र से मिलते हैं तो कितनी फालतू बातें करते हैं। इससे हृदय का कैसा विकास होता है। कितना हास्य ! कितना आनन्द ! परस्पर के नयनों की हर्ष-ज्योति के साथ मिलकर सूर्य-लोक कितना मधुर लगता है ! विषयी लोगों के परामर्श की तरह यदि केवल काम की बात ही कहें, प्रत्येक बात में यदि कीट की तरह उद्देश्य और अर्थ छिपा रहे तो कहाँ रहे यह हास्य, यह कौतुक, यह प्रेम, यह आनन्द ?

तब चारो ओर केवल शुष्क देह, लम्बा मुँह, क्षीण गंड, हास्यहीन शुष्क ओष्ठाधर, गडी हुई आँख ही नजर आए.-मानव की उपछाया परस्पर को बात को लेकर, खरोच-खरोच कर, केवल अर्थ ही निकाल रही है अथवा 'परस्पर के मस्तक को लक्ष्य करके उद्देश्य-कठिन बातों के पत्थर फेंक रही है।

बहुधा साहित्य में ऐसे हृदय-मिलन के उपलक्ष में फालतू बातें रहती हैं। साहित्य इस तरह विकास और स्फूर्तिमात्र है। आनन्द ही उसका आदि, मध्य और अन्त है; आनन्द ही साहित्य का कारण और उद्देश्य है।

साहित्य की सामग्री

सिर्फ अपने आनन्द के लिये लिखना साहित्य नहीं है। बहुत से लोग कवित्व करके कहा करते हैं, जिस तरह पक्षी अपने उल्लास से ही गाता है, उसी तरह लेखक की रचना का उल्लास भी उसके आत्मगत् है। पाठक मानो उन रचनाओं को जबर्दस्ती पढते हैं। पक्षी के गीत में पक्षी-समाज के लिये कोई लक्ष्य नही है, यह बात मैं जोर देकर नही कह सकता। न रहे तो न सही, इसे लेकर तर्क करने की कोई बात नही है। किन्तु, लेखक का प्रधान लक्ष्य-केन्द्र है पाठक-समाज। इसे कृत्रिम कहना पडे, ऐसा कोई कारण नही है। माता के स्तन एक मात्र सन्तान के लिये हैं, तब भी उन्हें स्वतःस्फूर्त कहने में कोई बाधा तो नही है।

नीरव कवित्व और आत्मगत् भावोच्छ्वास, साहित्य में ये दो फालतू चीजें कहीं कहीं प्रचलित हैं। जो ईंधन जलता नही है, उसे आग कहना और जो मनुष्य आकाश की ओर देख कर आकाश की तरह ही चुपचाप रहता है, उसे कवि कहना बराबर है। प्रकाश ही कवित्व है। मन के भीतर क्या है और क्या नही है, इसकी आलोचना करके बाहरी लोगो का कोई नुकसान नही होता। कहा जाता है, 'मिष्टान्नमितरे जना', भडार के भीतर क्या है, इसका अदाज करने में बाहर के लोगो का कोई फायदा नही है। उन्हें तो हाथो-हाथ-मिठाई मिलनी चाहिये। साहित्य में आत्म-गत् अभ्यास वैसी ही एक वस्तु है। रचना रचयिता के अपने लिये नही है, यह समझना होगा और इसी अनुसार उसकी रचना का विचार करना होगा।

हमारे मन के भावों की स्वाभाविक प्रवृत्ति यह है कि वे मन के

भीतर अपने को अनुभूत करना जानते हैं। प्रकृति में हम देखते हैं कि व्याप्त होने के लिये, जीवित रहने के लिये, प्राणियो में निरन्तर एक संघर्ष हो रहा है। जो जीव सन्तान के द्वारा जितने अधिक स्थान पर अधिकार करता है, वह अपने अस्तित्व को उतना ही अधिक सत्य समझता है।

मनुष्य के मनोभावो में भी इसी तरह की एक चेष्टा है। फर्क सिर्फ इतना ही है कि प्राण का अधिकार देश और काल में रहता है, मनोभावो का अधिकार मन में और काल में रहता है। मनोभावो की चेष्टा काल-क्रम में मन को आयत्त करने का होती है।

यह एकान्त आकांक्षा प्राचीन काल से कितने सकेत, कितनी भाषा, कितने पत्थरों पर खुदी हुई, कितने प्रयासो में अपने को व्यक्त करन को कोशिश कर रही है—बांये से दांये, दांये से बांये, ऊपर से नीचे, विभिन्न ओर से यह प्रयास क्यो ? इसलिये कि मैंने जो चिन्ता की है, मैंने जो अनुभव किये हैं, वे विलुप्त नही होगे; वे एक मन से दूसरे मन में, एक काल से दूसरे काल में चिन्तित होकर, अनुभूत होकर, प्रवाहित होते रहेंगे। मेरा मकान, मेरी सामग्री, मेरा शरीर-मन, मेरे दु:ख-सुख की सामग्रियां, सब कुछ चली जायेंगी। केवल मैंने जो सोचा है, जो चिन्ता की है, वह चिरकाल के मनुष्य की चिन्ता है, इस लिये वह उनके आश्रय में सजीव ससार के बीच जीवित रहेगी।

मध्य एशिया की मरुभूमि के बालू-स्तूप के नीचे से जब विलुप्त मानव-समाज की प्राचीन जीर्ण पोथियां मिली तो उनकी भाषा के अपरिचित अक्षरो में कैसी एक गम्भीर वेदना थी। नही मालूम, कौन से युग के सजीव चित्त की चेष्टा आज हमारे मन में प्रवेश करने के लिये आकुल हो रही है। जिसने लिखा था वह नही है, जिस लोकालय में लिखा था वह भी नही है; किन्तु मनुष्य के मन के भाव मनुष्य के दु:ख-सुख में लीन होने के लिये युग-युगान्तर मे अपना परिचय नही दे पा रहे हैं, केवल अपने दोनो बाहु बढा कर मुँह की ओर देख रहे हैं। जगत् के सर्व श्रेष्ठ सम्राट अशोक अपनी जिन बातो को चिरकाल के

लिये श्रुतिगोचर कराना चाहते थे उन्हें उहोने पहाड के गात्र पर खोद दिया था। उन्होने सोचा था कि पहाड अभी नही मरेगा, उसका स्थानान्तर भी नहीं होगा, अनन्त काल के पथ के किनारे अचल खडा नव-नव युग के पथिको को एक ही वाणी सुनाता रहेगा। पहाड को उन्होने बोलने का अधिकार दिया था।

पहाड कालक्रम से उनकी भाषा वहन करता आ रहा है। कहाँ सम्राट अशोक, कहाँ पाटलिपुत्र, कहाँ धर्म-जाग्रत भारतवर्ष के गौरव के वे दिन! किन्तु पहाड उन दिनो की वह स्मृति भाषा में आज भी उच्चारण कर रहा है। कितने दिनो तक अरण्य-रोदन किया है! अशोक की वह महावाणी भी कितने सैकडो वर्षो तक मानव-हृदय को केवल गूँगे की तरह इशारों से बुलाती आई है। रास्ते से राजपूत गये, पठान गये, मुगल गये,—लेकिन किसी ने उसके इशारे को नही समझा। समुद्र पार के जिस क्षुद्र द्वीप की बात भी अशोक ने नही सोची थी, उसके शिल्पी जब पाषाण पर उनके अभिलेख खोद रहे थे तो जिस द्वीप के अरण्यचारी 'द्रयिद'-गण अपनी पूजा के आवेग को भाषाहीन प्रस्तर-स्तूप की स्तुति में कर रहे थे, कई हजार वर्ष के बाद उसी द्वीप से एक विदेशी ने आकर कालान्तर के उस मूक इंगितपाश से अपना भाषा का उद्धार किया। राज चक्रवर्ती अशोक को इच्छा इतने दिनो बाद एक विदेशी की सहायता से सार्थक हुई।

यह कहकर मैं अशोक के अभिलेखों को साहित्य नहीं कह रहा हूँ। इनसे सिर्फ इतना ही प्रमाणित होता है कि मानव हृदय की प्रधान आकांक्षा क्या है? हम मूर्त्ति बनाते हैं, चित्र आँकते हैं, कविता लिखते हैं, पत्थरों के मन्दिर बनाते हैं, देश-विदेश में यह जो चेष्टा चल रही है यह और कुछ नही है, मनुष्य का हृदय मनुष्य के हृदय के लिये अमरता प्रार्थना कर रहा है। जो चिर-कालीन मनुष्य के हृदय में अमर होने की चेष्टा करता है, साधारणत. वह हमारे क्षणकालीन-प्रयोजन और चेष्टा के द्वारा पृथक हो जाता है। हम प्रति-वर्ष प्रयोजन के अनुसार धान, गेहूँ

जौ आदि बोते हैं, किन्तु यदि अरण्य की प्रतिष्ठा करना चाहे तो वनस्पति के बीज संग्रह करने पड़ेंगे।

साहित्य में यही चिरस्थायी चेष्टा मनुष्य का प्रिय लक्ष्य है। इसलिये देश के हितैषी समालोचक चाहे जितने ही उत्तेजित होकर कहें कि देश में सारवान् साहित्य का अभाव होरहा है, केवल नाटक, उपन्यास और काव्य से देश भर गया है तो भी लेखकों को होश नही होगा। क्योकि सारवान् साहित्य से वर्तमान का प्रयोजन मिट सकता है, किन्तु अप्रयोजनीय साहित्य में स्थायित्व की संभावना अधिक है।

जो ज्ञान की बात है, उसका प्रचार होने पर ही उसका उद्देश्य सफल हो जा । मनुष्य का ज्ञान, नये आविष्कार के द्वारा, पुराने आविष्कारो को आच्छन्न कर देता है। पहले जो बात पडितो के लिए अगम्य थी आज वह साधारण बालक भी जानता है। जो सत्य नये भेष में विप्लव लाता है, वही सत्य पुराने भेष में विस्मय-मात्र की सृष्टि नहीं करता। आज जो तत्व एक मूढ भी जानता है, वे ही तत्व कभी किसी समय पंडितो को अगम्य थे, यही सोचने पर आश्चर्य होता है। किन्तु, हृदय के भाव प्रचार द्वारा पुराने नही होते हे।

ज्ञान की बात एक बार जान लेने के बाद दूसरी बार उसकी आवश्यकता नही रह जाती। आग गरम है, सूर्य गोल है, पानी तरल है आदि को एक बार जान लेना ही यथेष्ट है। द्वितीय बार यदि कोई हमें उन बातो की पुनरावृत्ति करके सुनाये तो धैर्य रखना कठिन हो जाता है। किन्तु भाव की बात बार-बार सोचने पर भी शान्ति नही होती है। सूर्य पूर्व में उदय होता है, यह बात अब हमारे मन को आकर्षित नही करती, किन्तु सूर्योदय का जो सौन्दर्य और आनन्द है वह जीव-सृष्टि के बाद से आज तक हमारे निकट अम्लान है। यहाँ तक कि अनुभूति जितने प्राचीन काल से और जितनी लोक-परम्परा के भीतर से आती है, उसकी गम्भीरता भी उतनी ही अधिक होती है।

अतः मनुष्य यदि चिरकाल के लिये अपनी कोई वस्तु अमर करना

साहित्य का तात्पर्य

बाहर का जगत् हमारे मन में जाकर एक और जगत् हो जाता है। उसमें बाहरी जगत् का रग, आकृति, ध्वनि प्रभृति ही नही, उसके साथ हमारी अनुभूतियाँ विभिन्न रूप में जटित हैं-वह हमारी हृदय-वृत्ति के विभिन्न रसों से नाना भावों में आभासित हो उठता है।

इस हृदय-वृत्ति के रस से हम बाहरी जगत् को विशेष रूप से अपना बना लेते हैं। जैसे पेट में पचाने वाला रस यदि पर्याप्त न रहे तो खाद्य हजम नही होता उसी तरह हृदयवृत्ति के रस को जो लोग पर्याप्तरूप में जगत्-क्षेत्र में प्रयोग नहीं करते हैं वे बाहरी जगत् को अन्तर का जगत्, अपना जगत्, मनुष्य का जगत् नही बना सकते।

किसी-किसी मनुष्य की प्रकृति ऐसी होती है कि वह दुनियाँ के बहुत थोडे कामो में उत्सुक रहता है। ऐसी प्रकृति को जड प्रकृति कहते हैं। ऐसे लोग दुनियाँ में जन्म लेकर भी अधिकांश जगत् से वचित रहते हैं। उनके हृदय के गवाक्ष सख्या में बहुत थोडे तथा विस्तृति में सकीर्ण होने के कारण वे विश्व के बीच भी प्रवासी के रूप में रहते हैं।

ऐसे सौभाग्यवान लोग भी हैं जिनका विस्मय, प्रेम और कल्पना सर्वत्र सजग रहती है। प्रकृति के कोने-कोने में उनका निमत्रण रहता है। लोकालय के नाना आन्दोलन उनकी चित्त-वाणी को नाना रागिनियों में स्पदित रखते हैं।

इनके मन में हृदय-वृत्ति के नाना रसों, नाना रंगों और नाना प्रकारों में बाहरी जगत प्रस्तुत हो उठता है।

भावुक-मन का यह जगत, बाहरी जगत से, मनुष्य का अधिक अपना

है। हृदय की सहायता से मनुष्य हृदय के लिये वह अधिक सुगम हो उठता है। हमारे चित्त के प्रभाव से वह जो विशेषत्व प्राप्त करता है, वही मनुष्य के लिये परम उपादेय है।

अतः देखा जा सकता है कि बाहरी जगत से मानव का जगत दूसरा है। उसमें प्रभेद है। इस जगत का प्रवाह मनुष्य के हृदय में है। यह प्रवाह पुराना और नित्य नवीन है-नव-नव इंद्रियों, नव-नव हृदयों से यह सनातन श्रोत चिरकाल नवीभूत होता जाता है।

किन्तु इसे पाया कैसे जा सकता है? इसे पकड़ रखने की तरकीब क्या है? इस अपूर्व मानस-जगत को रूप से पुनर्वार बाहर प्रकाश न कर सकने के कारण यह सर्वदा सृष्ट और सर्वदा नष्ट होता रहता है। किन्तु यह नष्ट नहीं होना चाहता। हृदय का जगत अपने को व्यक्त करने के लिये व्याकुल रहता है। तभी चिरकाल से मनुष्य में साहित्य का आवेग है।

साहित्य का विचार करते वक्त दो बातें देखनी होती हैं। प्रथम, विश्वपर साहित्यकार के हृदय का अधिकार कितना है; द्वितीय वह स्थायी आकार में कितना व्यक्त हुआ है।

इन दोनो में सर्वदा सामजस्य नही रहता। जहाँ रहता है, वहाँ सोने में सुगन्ध होती है।

कवि का कल्पना-सचेतन हृदय जितना विश्वव्यापी होता है, उतना ही उनकी रचना की गभीरता में हमारी परितृप्ति होती है। उतता ही मानव-विश्व की सीमा का विस्तार होता है, और हमारे चिर-विहार क्षेत्र की विपुलता बढती है।

किन्तु रचना शक्ति का नैपुण्य भी साहित्य में महा मूल्यवान है। क्योंकि जिसे अवलम्बन करके वह शक्ति प्रकाशित होती है वह अपेक्षाकृत तुच्छ होने पर भी यह शक्ति एकदम नष्ट नही होती। वह भाषा में, साहित्य में, सञ्चित होकर रहती है। इससे मानव की प्रकाश-क्षमता बढ़ती है। इस क्षमता के लिये मानव चिरकाल से व्याकुल है। जिन

अब हम सारी आलोचना के विषय को एक वाक्य में कह सकते हैं कि साहित्य का विषय मानव-हृदय और मानव-चरित्र है ।

किन्तु मानव-चरित्र इतना-सा मानो बाहुल्य कहना हो गया हैं। वस्तुत बाह्य-प्रकृति और मानव-चरित्र मनुष्य के हृदय में सर्वदा जो आकार धारण करता हैं, जो संगीत ध्वनित करता हैं, भाषा-रचित वही चित्र और वही संगीत ही साहित्य हैं ।

भगवान् का आनन्द प्रकृति में, मानव-चरित्र में, अपने आप को सृष्ट करता है, मनुष्य के हृदय और साहित्य में अपने को सृजन और व्यक्त करने की चेष्टा करता हैं । इस चेष्टा का अन्त नही है । यह विचित्र है । कवि मानव-हृदय की इस चिरन्तन चेष्टा का उपलक्ष्य-मात्र है ।

भगवान् की आनन्द-सृष्टि अपने भीतर से स्वत उत्साहित है । मानव-हृदय की आनन्द सृष्टि उसकी ही प्रतिध्वनि है । जब-तब सृष्टि का यह आनन्द-गीत हमारे हृदय-तंत्र की वीणा को झंकृत करता रहता हैं । वह मानव-सङ्गीत जो भगवान की सृष्टि के प्रतिघात से हमारे अन्तर में सृष्टि का आवेग लाता है, साहित्य में उसी का विकास होता हैं । विश्व का श्वास हमारी चित्त-बंशी में कौनसी रागनी बजा रहा है, साहित्य उसे ही स्पष्ट करता है । साहित्य व्यक्ति विशेष का नही, रच-यिता का भी नही, वह देववाणी हैं । बाह्य-सृष्टि जिस तरह अपनी अच्छाई बुराई लिए, अपनी असम्पूर्णता लिए, चिरकाल व्यक्त होने की कोशिश करती हैं, यह वाणी भी देश-देश में विभिन्न भाषाओ में, हमारे अन्तर से बाहर होने के लिये निरन्तर प्रयत्नशील रहती हैं ।

नाटक

डाकघर

प्रथम अंक

माधवदत्त—मुश्किल में पड़ गया। जब वह नहीं था तो कोई-बात ही नही थी—कोई चिन्ता ही नही थी। अब वह कहाँ से आकर मेरे घर का उजाला बन गया है, उसके चले जाने के बाद यह घर मानो घर ही नही रहेगा। वैद्य जी, आप क्या सोचते हैं कि उसको—

वैद्य—उसके भाग्य में यदि आयु लिखी होगी तो दीर्घ काल जी भी सकता है, किन्तु आयुर्वेद में जैसा लिखा है उससे तो—

माधवदत्त—कहते क्या हैं ?

वैद्य—शास्त्रो ने कहा है, पैत्तिकान्, सन्निपातज्ञान, कफ वात—समुद्भावन—

माधवदत्त—रहने दीजिये, आप अब उन श्लोको को मत-कहिये—इनसे मेरा भय और भी बढ जाता है। अब क्या करना होगा वही बताइये।

वैद्य—(सुँघनी सूँघकर) खूब सावधानी से रखना पड़ेगा।

माधवदत्त—यह तो ठीक बात है, किन्तु कौन से विषय पर सावधान होना पडेगा, यह स्थिर कर दीजिये)

वैद्य—मैं तो पहले ही कह चुका हूँ, उसे बाहर एकदम मत जाने दीजिये।

माधवदत्त—बालक ही तो है, उसे दिन-रात घर में बंद रखना बहुत कठिन है।

वैद्य—लेकिन कीजियेगा क्या ? इस शरत्काल की हवा और धूप

दोनों ही बालक के लिये विषवत् हैं—कारण शास्त्रो ने कहा है—अपस्मारे ज्वरे काशे कामलाया हलीम के—

माधवदत्त—रहने दीजिये शास्त्रों को ! तो उसे क्या घर में ही बन्द रखना पड़ेगा—और कोई उपाय नही है ?

वैद्य—कुछ नही, कारण, पवने तपने चैव—

माधवदत्त—आपके चैव को लेकर मुझे क्या फायदा होगा बताइये ? उसे रहने दीजिये और क्या करना पड़ेगा वही कहिये । किन्तु, आपकी व्यवस्था बड़ी कठोर है। रोग के सारे कष्ट वह बेचारा चुपचाप सह लेता है—किन्तु, आपकी दवा पीते वक्त उसका कष्ट देखकर मेरी छाती फट जाती है ।

वैद्य—वह कष्ट जितना प्रबल होता है उसका फल भी उतना ही अधिक होता है। तभी महर्षि च्यवन ने कहा है भैषज हितवाक्यच तिक्तं आशुफलप्रद । अच्छा तो, आज जा रहा हूँ माधव जी ?

(प्रस्थान)

(ठाकुर दादा का प्रवेश)

माधवदत्त—अरे ठाकुर दादा आ रहा है। सब चौपट करेगा ।

ठाकुर दादा—क्यो ? मुझसे इतने क्यों डरते हो ?

माधवदत्त—तुम तो बच्चो को बहकाने वाले सर्दार हो ।

ठाकुर दादा—तुम तो बच्चे नहीं हो और न तुम्हारे घर में ही कोई बच्चा है। फिर तुम बहकाने वालों की उम्र के भी नहीं हो—तुम्हें किसकी चिन्ता ?

माधवदत्त—घर में एक लड़का लाया हूँ ।

ठाकुर दादा—वह कैसा ?

माधवदत्त—मेरी स्त्री एक लड़का गोद लेने के लिये पागल हो उठी थी ।

ठाकुरदादा—यह तो बहुत दिनों से सुनता आ रहा हूँ, लेकिन तुम लेना नही चाहते ?

माधवदत्त—जानते तो हैं ही, बडे परिश्रम से रुपया जमा किया है। यह सोच कर बुरा लगता कि न जाने कहाँ से किसी दूसरे का लड़का आकर मेरा परिश्रम से संचित धन बिना परिश्रम के खर्च करेगा, किन्तु यह लड़का मुझे कितना अच्छा लगता है !

ठाकुर दादा—तभी, इसके लिये जितने रुपये खर्च करते हो उतना ही सोचते हो कि रुपयो का उचित उपयोग हो रहा है।

माधवदत्त—आगे रुपया कमाया करता था, वह केवल एक नशे जैसा था—नही कमाये वगैर रह नही सकता था। किन्तु, अब जो सचय किया है, वह सब इस लडके को मिलेगा, यह जान कर बहुत आनन्द हो रहा है।

ठाकुर दादा—वाह भाई वाह, यह लड़का मिला कहाँ से ?

माधवदत्त—मेरी स्त्री का गाँव के नाते का भतीजा है। बचपन से ही बेचारे के माँ नही है और फिर उस दिन तो उसका बाप भी मर गया।

ठाकुर दादा—तब तो उसे मेरी आवश्यकता है।

माधवदत्त—वैद्य जी ने कहा है, उसके उतने से शरीर में एक साथ वात-पित्त-कफ जिस तरह प्रकोपित हो उठे हैं, उससे तो और आशा नहीं दिखाई पडती। अब एक मात्र उपाय यह है कि उसे शरत् की धूप और हवा से बचा कर घर में बन्द करके रखना। लेकिन तुम्हारा तो बच्चों को घर से बाहर करना ही खेल है—तभी तुमसे इतना डरता हूँ।

ठाकुर दादा—झूठ तो नही कह रहे हो—मैं शरत् की धूप और हवा की तरह ही भयानक हो उठा हूँ। किन्तु, भैया, घर के भीतर रखने का खेल भी मैं थोडा बहुत जानता हूँ। अपना काम काज कर आऊँ, फिर इस लड़के से दोस्ती करूँगा।

[प्रस्थान]

(अमल गुप्त का प्रवेश)

अमल—फूफा जी ?

माधवदत्त—क्या है अमल !

अमल—मैं क्या आँगन में भी नहीं जा सकता ?

माधवदत्त—नही बेटा ।

अमल—वहाँ, जहाँ बूआजी चक्की में दाल दलती हैं, वह देखिये न जहाँ गिलहरी अपनी दुम के बल पर बैठी दोनो हाथो से दली हुई दाल की चूनी कुतर-कुतर कर खा रही है—वहाँ भी मैं नही जा सकता ?

माधवदत्त—नही बेटा !

अमल—मैं यदि गिलहरी होता तो बडा अच्छा रहता । किन्तु, फूफाजी, मुझे बाहर निकलने क्यो नहीं देते ?

माधवदत्त—वैद्य ने कहा है, बाहर जाने से तुम बीमार पड जावोगे।

अमल—वैद्य ने कैसे जाना ?

माधवदत्त—कहते क्या हो अमल ? वैद्य नही जानेगा ? उसने इतनी मोटी-मोटी किताबें पढी हैं ।

अमल—किताब पढने से ही क्या सब कुछ मालूम पड जाता है ?

माधवदत्त—वाह ! यह भी नही जानते !

अमल—(दीर्घ श्वांस त्याग कर) मैंने तो कोई किताब नही पढी है·· ·· तभी नही जानता हूँ ।

माधवदत्त—बडे-बडे पण्डित भी तुम्हारे जैसे ही होते हैं—वे घर से तो निकलते नही हैं ।

अमल—निकलते नही हैं ?

माधवदत्त—कब निकलेंगे बताओ ? वे बैठे-बैठे किताबें ही पढते रहते हैं—और किसी ओर उनकी दृष्टि नही रहती ।

अमल बाबू तुम भी बडे होकर पण्डित बनोगे—बैठे बैठे इतनी बडी-बडी किताबें पढोगे—तुम्हे देख कर सब लोग आश्चर्यचकित हो जायेंगे ।

अमल—नही नही, फूफाजी, तुम्हारे पैरो पडता हूँ, मैं पण्डित नही बनूँगा—मैं पण्डित नही बनूँगा ।

माधवदत्त—यह कैसी बात कहते हो, अमल ? यदि मैं पण्डित हो

सकता तो बन जाता।

अमल—मैं, जो देखने लायक चीजें हैं उन्हें देखूंगा, केवल देखता ही रहूंगा।

माधवदत्त—सुनो इसको, देखोगे क्या? देखने लायक इतना है ही क्या?

अमल—अपनी खिड़की से दूर पर वह जो पहाड़ दिखता है, मेरी बहुत इच्छा होती है कि पहाड के उस पार चला जाऊँ?

माधवदत्त—सुनो पागल की बातें! काम नही, काज नही, खामखाह पहाड के उस पार चला जाऊँ। क्या, जो कहते हो, उसका पता ही नही चलता? पहाड जब एक बडी रोक की तरह खडा है तो समझना चाहिये कि उसे पार करना मना है—नही तो इतने बड़े पत्थरों को इकट्ठा करके इतने झमेले की क्या ज़रूरत थी।

अमल—फूफाजी, तुम क्या यह सोचते हो कि वे मना कर रहे हैं? मुझे लगता है कि पृथ्वी बोल नही सकती। तभी इस तरह नीले आसमान में हाथ उठाकर पुकारती है। बहुत दूर के जो लोग हैं, जो घर में बैठे रहते हैं वे भी दोपहर को खिड़की के पास बैठ कर यह पुकार सुनते हैं। पडितो को शायद यह सुनाई नही पड़ता है?

माधवदत्त—वे तो तुम्हारी तरह पागल नही हैं—वे सुनना ही नही चाहते।

अमल—मेरे जैसे पागल! मैंने कल ऐसा ही एक आदमी देखा था।

माधवदत्त—सचमुच? कैसा था?

अमल—उसके कधे पर एक बाँस की लाठी थी। लाठी के अगले छोर पर एक गठरी बँधी हुई थी। उसके बांये हाथ में एक लोटा था। पुराने पजाबी जूते पहने वह उस रास्ते से पहाड की ओर जा रहा था। मैंने उसे बुलाकर पूछा, कहाँ जा रहे हो? उसने कहा, क्या मालूम, कही भी। मैंने पूछा, क्यो जा रहे हो? उसने कहा, काम ढूंढ़ने। अच्छा

फूफाजी. काम क्या ढूंढ़ना पड़ता है ?

माधवदत्त—और नहीं तो क्या ? कितने लोग काम ढूंढ़ते हैं।

अमल—अच्छा तो, मैं भी उनकी तरह काम ढूंढूंगा।

माधवदत्त—ढूंढ़ने पर न मिले तो ?

अमल—ढूंढने पर यदि न मिले तो फिर ढूंढूंगा—इसके बाद वह पंजाबी जूते वाला आदमी चला गया—मैं दरवाजे पर खड़ा-खड़ा देखने लगा, वहाँ पर जहाँ गूलर के पेड़ के नीचे झरना बह रहा है, वहीं उसने लाठी रख दी और झरने के पानी से धीरे-धीरे हाथ-पैर धो लिये—फिर गठरी खोल कर सत्तू निकाला और पानी से सान कर खाने लगा। खा लेने के बाद फिर गठरी बाँध कर कंधे पर रख ली।—पैरों पर का कपड़ा सिमेट कर उस झरने के भीतर से पानी काटता हुआ बड़े मजे में उस पार चला गया। बूआजी से मैंने कह रखा है कि इस झरने के किनारे जाकर मैं भी एक दिन सत्तू खाऊंगा।

माधवदत्त—बूआ ने क्या कहा ?

अमल—बूआजी ने कहा कि तुम अच्छे हो जाओगे, उसके बाद तुम्हें उस झरने के पास ले जाकर सत्तू खिला लाऊंगी—मैं कब अच्छा होऊंगा ?

माधवदत्त—अब देर नहीं है, बेटा !

अमल—देर नहीं है ? लेकिन अच्छा होते ही मैं चला जाऊंगा।

माधवदत्त—कहाँ जाओगे ?

अमल—कितने टेढ़े-मेढ़े झरनों के जल में अपने पैर डुबोता हुआ पार होता हुआ चला जाऊंगा। दोपहर को जब सभी घर का दरवाजा बन्द करके सोते रहेंगे, तब मैं न मालूम कहाँ और कितनी दूर पर काम ढूंढता हुआ घूमता रहूंगा।

माधवदत्त—अच्छा पहले तुम अच्छे हो जाओ-फिर तुम—

अमल—इसके बाद मुझे पंडित होने के लिये मत कहना फूफाजी।

माधवदत्त—तुम क्या होना चाहते हो, बताओ ?

अमल—अभी तो मुझे कुछ याद नही आ रहा है—अच्छा मैं सोच कर बताऊँगा।

माधवदत्त—किन्तु, तुम इस तरह जिसे-तिसे बुलाकर बात मत करना।

अमल—विदेशी-लोग मुझे बहुत अच्छे लगते है।

माधवदत्त—यदि तुम्हें पकड़ कर ले जाते तो ?

अमल—तब तो बहुत अच्छा होता। किन्तु मुझे तो कोई पकड़ कर नहीं ले जाता—सभी केवल बैठाए रखते है।

माधवदत्त—मुझे काम है, मैं जा रहा हूँ—लेकिन बेटा, देखना, बाहर मत निकल जाना।

अमल—नही जाऊँगा। किन्तु, फूफाजी, सड़क के पास इस कमरे में मैं बैठा रहूँगा।

(२)

दही वाला—दही–लो, बढिया दही लो–दही !

अमल—दही वाले, दही वाले, ओ दही वाले !

दहीवाला—पुकारते क्यो हो ? दही लोगे ?

अमल—कैसे खरीदूँ ? मेरे पास तो पैसा नही है।

दही वाला—कैसे लड्के हो जी तुम ! खरीदोगे नही तो मेरा वक्त क्यो बर्बाद कर रहे हो ?

अमल—मैं यदि तुम्हारे साथ जा सकता तो चला जाता।

दहीवाला—मेरे साथ ?

अमल—हाँ ! तुम जो इतनी दूर से पुकारते हुये चले जा रहे हो, यह सुन कर मेरा मन न जाने कैसा हो रहा है।

दहीवाला—(दही की मटकी उतार कर) भैया, तुम यहाँ बैठ कर क्या कर रहे हो ?

स्त्रियां दही जमाती हैं—वही दही है।—दही दही, दही—ई—अच्छा दही है।

यह तो सडक पर प्रहरी घूम रहा है। प्रहरी, प्रहरी, एक वार मेरी वात सुन जाओ न प्रहरी।

(प्रहरी का प्रवेश)

प्रहरी—मुझे इस तरह क्यों वुला रहे हो ? मुझसे तुम्हें डर नहीं लगता ?

अमल—क्यो ? तुम्हारा डर क्यो लगेगा ?

प्रहरी—यदि तुमको पकड कर ले जाऊँ ?

अमल—पकड कर कहाँ ले जाओगे ? वहुत दूर ? उस पहाड के उस ओर ?

प्रहरी—एकदम यदि राजा के पास ले जाऊँ तो ?

अमल—राजा के पास ? ले जाओ न मुझको। लेकिन, मुझे तो वैद्य ने वाहर जाने के लिये मना किया है। मुझे कोई कहीं पकड कर नहीं ले जा सकता—मुझे केवल रात-दिन यहाँ वैठा रहना पडेगा।

प्रहरी—वैद्य ने मना किया है ? अहा, तभी तुम्हारा मुँह मानो पीला पड गया है। आंखो के नीचे स्याही पड गई है। तुम्हारे दोनों हाथों की नसें दिखाई पड रही हैं।

अमल—प्रहरी, तुम घंटा नहीं वजाओगे ?

प्रहरी—अभी वक्त नहीं हुआ।

अमल—कोई कहता है 'समय वह रहा है' कोई कहता है समय हुआ ही नहीं है'—अच्छा तुम घंटा वजा दोगे तो समय हो जायेगा।

प्रहरी—ऐसा नहीं होता। समय होने पर मैं घंटा वजा देता हूँ।

अमल—तुम्हारा घंटा मुझे वहुत अच्छा लगता है—इसकी आवाज वहुत अच्छी है। दोपहर के वक्त जब हमारे घर में सभी लोग भोजन कर लेते हैं, जब फूफाजी कहीं काम पर चले जाते हैं, वूआजी रामायण पढती-पढ़ती सो जाती हैं, हमारा छोटा कुत्ता आंगन की उस छाया में

दुम के भीतर अपना मुँह दाबे सोता रहता है—तब तुम्हारा वह घंटा बजता है—टन्-टन्-टन्,-टन्-टन्-टन् । तुम्हारा घटा क्यो बजता है ?

प्रहरी—घटा सब को यह एक ही बात कहता है, समय बैठा नही है, समय बीत रहा है ।

अमल—कहाँ जा रहा है ? कौन से देश को ?

प्रहरी—यह कोई नहीं जानता ।

अमल—उस देश को शायद किसी ने देखा नही है ? मेरी बडी इच्छा हो रही है कि मै भी उस समय के साथ उसी देश में चला जाऊँ—जिस देश की कोई बात नही जानता, जो बहुत दूर है ।

प्रहरी—उस देश में तो सभी को जाना होगा, भैया !

अमल—मुझे भी जाना होगा ?

प्रहरी—होगा क्यो नही ?

अमल—लेकिन, वैद्य जी ने तो मुझे बाहर जाने के लिये मना किया है ।

प्रहरी—किसी दिन स्वयं वैद्य जी ही शायद तुम्हारा हाथ पकड कर ले जायेंगे ।

अमल—नही-नही, तुम उन्हें नही जानते हो, वे केवल पकड़ कर रखते है ।

प्रहरी—उनसे अच्छे वैद्य जो है, वे आकर छोड़ देते है ।

अमल—उनसे अच्छे वैद्य कहाँ है ? वे मुझे कब ले जायेंगे ? मुझे तो बैठे-बैठे अब अच्छा नही लगता ।

प्रहरी—ऐसी बात नही कहनी चाहिये, भैया !

अमल—देखो न—मै तो बैठा ही हूँ—जहाँ मुझे बैठाया है वहाँ से तो मै उठा नही हूँ—किन्तु, जब तुम्हारा घटा टन्-टन्-टन् बजता है तो मेरा मन न जाने कैसा हो जाता है । अच्छा, प्रहरी !

प्रहरी—क्या, भाई ?

मुखिया—कौन है वे ! बीच रास्ते में मुझको पुकार रहा है ! कहाँ का बन्दर है यह !

अमल—आप गाँव के मुखिया हैं, आपको तो सभी मानते हैं ।

मुखिया—(खुश होकर) हाँ, हाँ, मानते तो हैं, बहुत मानते हैं ।

अमल—राजा का डाकिया आपकी बात सुनता है ?

मुखिया—न सुने तो उसकी जान बचे ? मजाल क्या है ?

अमल—आप डाकिये से कह दें कि मेरा ही नाम अमल है—मैं इस खिड़की के पास बैठा रहता हूँ ।

मुखिया—क्यो, बात क्या है ?

अमल—मेरे नाम से यदि कोई चिट्ठी आये—

मुखिया—तुम्हारे नाम से चिट्ठी ! तुम्हें कौन चिट्ठी लिखेगा ?

अमल—यदि राजा चिट्ठी लिखे तो—

मुखिया—हा-हा-हा हा ! यह लडका तो कम नही है। हा-हा-हा हा ! राजा तुम्हें चिट्ठी लिखेंगे ? हाँ, वे तो लिखेंगे ही ! तुम जो उनके परम मित्र हो । कई दिनों से तुम्हारे साथ राजा की मुलाकात नही हुई है । तभी खबर मिली है कि राजा दिन-पर-दिन सूखते जा रहे हैं । अब ज्यादा देर नही है । उनकी चिट्ठी आज-कल में ही आने वाली है ।

अमल—मुखिया जी, आप इस तरह क्यो बातें कर रहे हैं । आप क्या मुझसे नाराज होगये हैं ?

मुखिया—बाप रे ! तुम पर नाराज होऊँ ? मुझ में इतना साहस ! राजा से तुम्हारा पत्र-व्यवहार चलता है ।—माधवदत्त बहुत बढ गया है । दो पैसे इकट्ठ होगये होगे तभी उसके घर में राजा-बादशाह को छोड कर बात ही नहीं होती । ठहरो न, उसे मजा चखा रहा हूँ । ओ लडके, अच्छा, जल्दी ही राजा की चिट्ठी तुम्हारे घर में आये, इसकी व्यवस्था मैं कर देता हूँ ।

अमल—नहीं, नहीं, आपको कुछ नहीं करना होगा ।

मुखिया—क्यों जी ! तुम्हारी खबर मैं राजा को बता दूँगा, तब

वह और देर न करके तुम लोगो की खबर लेने के लिये एक प्यादा भेज देंगे !—माधवदत्त की बड़ी स्पर्द्धा हो गई है—राजा के कान में बात उठते ही ठीक हो जायेगा ।

(प्रस्थान)

अमल—तुम कौन हो जो छम-छम करती हुई जा रही हो, जरा ठहरो न !

(बालिका का प्रवेश)

बालिका—मुझे क्या ठहरने की फुर्सत है ? समय जा रहा है जो !

अमल—तुम्हारी ठहरने की इच्छा नही होती है—मेरी भी अब यहाँ बैठने की इच्छा नही है ।

बालिका—तुम्हें देखकर मुझे ऐसा लगता है कि मानो तुम सुबह का तारा हो,—तुम्हें क्या हुआ है ?

अमल—न मालूम क्या हुआ है, वैद्य जी ने बाहर जाने के लिये मना किया है ।

बालिका—आह ! तब निकलना मत—वैद्य की बातें सुननी चाहियें—नटखटी नही करनी चाहिये, नही तो लोग शैतान कहेंगे । बाहर की ओर देख कर तुम्हारा मन मचल रहा है, मैं तुम्हारा यह आधा खुला हुआ दरवाजा भी बन्द कर देती हूँ ।

अमल—नही, नही, बन्द मत करो—यहाँ मेरा सब कुछ बन्द है सिर्फ इतना-सा खुला है । तुम कौन हो यह तो नही बताया—मैं तो तुम्हें नही जानता ।

बालिका—मैं सुधा हूँ ।

अमल—सुधा ?

सुधा—नही जानते ? मैं यहाँ का मालिन की बेटी हूँ ।

अमल—तुम क्या करती हो ?

सुधा—डलिया भर कर फल तोड़ लाती हूँ, माला गूँथती हूँ । अब फूल तोड़ने जा रही हूँ ।

अमल—फूल तोड़ने जा रही हो ? तभी तुम्हारे दोनों पैर इतने चंचल हो उठे हैं—जब चलती हो तो कड़ा बजता है, झन्-झन्-झन्। यदि मैं तुम्हारे साथ चल पाता तो ऊँची डाल पर, जहाँ का फूल तुम्हें दिखाई नहीं देता, मैं तोड़ देता।

सुधा—हाँ, फूलों के बारे में तुम ही मुझ से अधिक खबर जानोगे।

अमल—जानता हूँ, खूब जानता हूँ। मैं चम्पा फूल के सात भाइयों की कथा जानता हूँ। मैं सोचता हूँ कि यदि मुझे सब कोई छोड़ दे तो मैं खूब घने जंगल में, जहाँ रास्ता ढूँढने पर भी नहीं मिलता, वहाँ जा सकता हूँ। पतली डालियों के किनारे जहाँ सारिकायें झूला करती हैं वहाँ मैं चम्पा फूल के रूप में खिल सकता हूँ। तुम मेरी पारुल दीदी बनोगी ?

सुधा—तुम्हारी बुद्धि भी कैसी है ! मैं कैसे पारुल दीदी हो सकती हूँ। मैं सुधा जो हूँ—शशी मालिन की बेटी ! मुझे रोज इतनी माला गूँथनी होती है। मैं यदि तुम्हारी तरह रोज यहाँ बैठ सकती तो कितना अच्छा होता।

अमल—तो दिन भर तुम करती क्या हो ?

सुधा—मेरी बेनि बहू नाम की गुड़िया है, उसका ब्याह करती हूँ। मेरी 'म्याऊँ' है, उसे लेकर—मैं चली, देर हो रही है, फिर फूल नहीं मिलेंगे।

अमल—मेरे साथ और थोड़ी-सी बातें करो न, मुझे बहुत अच्छा लग रहा है।

सुधा—अच्छा, ठीक है। शैतानी मत करो और शान्त होकर, सुशील बालक की तरह यहाँ बैठे रहो। मैं फूल लेकर जब लौटूँगी तब तुम से बातें करूँगी।

अमल—और, मुझे एक फूल देती जाओगी न !

सुधा—फूल ऐसे कैसे दूँगी ? दाम जो देने पड़ेंगे ?

अमल—मैं जब बड़ा होऊँगा, तब तुम्हें दाम दूँगा। मैं झरने

के उस पार काम ढूंढने चला जाऊंगा, उस वक्त तुम्हें दाम देता जाऊंगा।

सुधा—अच्छा, ऐसा ही करना।

अमल—तब तुम फूल तोड कर आओगी न ?

सुधा—आऊंगी।

अमल—आओगी न ?

सुधा—आऊंगी।

अमल—! मुझे भूल तो नही जाओगी ? मेरा नाम अमल है। तुम्हारे याद रहेगा न ?

सुधा—नही भूलूंगी, नही। मुझे, याद रहेगा।

(प्रस्थान)

(लड़कों का प्रवेश)

अमल—भाई, तुम लोग सब कहां जा रहे हो ? एक बार थोड़ी देर ठहरो न !

लड़के—हम लोग खेलने जा रहे है।

अमल—तुम लोग कौनसा खेल खेलोगे भाई।

लड़के—हम लोग खेती का खेल खेलेंगे।

पहला लडका—(लाठी दिखाकर) यह है हमारा हल।

दूसरा लड़का—हम लोग दोनों बैल बनेंगे।

अमल—सारे दिन खेलोगे ?

लड़के—हां सारे दिन-भर खेलगे।

अमल—इसके बाद नदी के किनारे से होते हुए घर लौट आओगे ?

लड़के—हां, संध्या को लौटेंगे।

अमल—मेरे इस घर के सामने से ही लौट कर जाना, भाई।

लड़के—तुम भी बाहर आओ न ! चलो खेलें।

अमल—वैद्य जी ने मुझे बाहर निकलने के लिये मना किया है।

लड़के—वैद्य जी ! वैद्य की बातें तुम मानते हो ? अच्छा, चलो भाई, चलो, हमें देर हो रही है।

अमल—नही भाई, तुम लोग मेरी इस खिडकी के सामने सड़क पर थोडी देर खेलो—मैं जरा देखूँगा।

लड़के—यहाँ क्या लेकर खेलें ?

अमल—यह देखो, मेरे खिलौने पडे हैं—ये सब तुम्हीं लोग ले लो—घर के भीतर अकेला खेलना मुझे अच्छा नहीं लगता—ये सब फर्श पर ही पडे रहते हैं—ये खिलौने मेरे कोई काम में नही आते है।

लड़के—वाह, वाह, वाह कैसे सुन्दर खिलौने हैं। यह तो जहाज है, यह बुढ़िया है। देखो, कैसा सुन्दर सिपाही है। यह सब तुमने हमें दे दिये ? तुम्हें अफसोस तो नही हो रहा है ?

अमल—नही, मुझे कुछ भी अफसोस नही है, ये सब तुम्हीं लोगों को दे दिये।

लड़के—लेकिन इन्हें लौटायेंगे नही।

अमल—नही, लौटाना नहीं पडेगा।

लड़के—कोई बिगडेगा तो नही ?

अमल—कोई नही, कोई नही। लेकिन, रोज सुबह तुम लोग इन खिलौनों को लेकर मेरे इस दरवाजे के सामने थोडी देर तक खेलना। और ये खिलौने जब पुराने हो जायेंगे तो मैं तुम्हें और नये खिलौने मँगा दूँगा।

लड़के—अच्छा, भाई, हम लोग रोज यहाँ आकर खेल जाया करेंगे। अरे भाई, सिपाहियों को यहाँ सब सजाओ—हम लोग लडाई-लड़ाई खेलेंगे, बन्दूक कहाँ पावें ? वह जो एक बडी मूँज की सरहरी पड़ी है—उसी को तोडकर हम बन्दूक बनायें। लेकिन, भाई, तुम तो सोने लगे ?

अमल—हाँ मुझे बडी जोर से नींद आ रही है। न जाने क्यो रह-रहकर मुझे नींद आती है। बहुत देर से बैठा हूं, अब बैठा नहीं रहा

जाता—मेरी पीठ में दर्द हो रहा है।

लड़के—अभी तो कुल एक पहर ही हुआ है—अभी से तुम्हें नींद क्यों आती है। वह सुनो, एक पहर का घण्टा बज रहा है।

अमल—हाँ, वह बज रहा है—टन्-टन्-टन्—मुझे सोने के लिये कह रहा है।

लड़के—तब हम लोग अब जायें, फिर कल सुबह आयेंगे।

अमल—जाने से पहले तुम लोगों से एक बात पूछूँ, भाई। तुम लोग तो बाहर रहते हो, तुम लोग राजा के उस डाकघर के डाकियों को जानते हो?

लड़के—हाँ, जानते हैं, खूब जानते हैं।

अमल—कौन-कौन हैं? क्या नाम है।

लड़के—एक का नाम है बादल डाकिया, एक का नाम है शरत्—और भी कई हैं।

अमल—अच्छा, मेरे नाम से चिट्ठी आने पर वे क्या मुझे पहचान सकेंगे?

लड़के—क्यों नहीं पहचान सकेंगे? चिट्ठी पर तुम्हारा नाम रहने से ही तुम्हें पहचान लेंगे।

अमल—कल सुबह जब आओगे तो उनमें से किसी एक को बुला कर मुझे दिखा देना न!

लड़के—अच्छा दिखा देंगे।

अमल शय्यागत

अमल—फूफाजी, आज क्या मैं अपनी उस खिड़की के नजदीक भी नहीं जा सकता ? वैद्य जी ने मना किया है ?

माधवदत्त—हाँ, बेटा—वहाँ प्रतिदिन बैठने से ही तो तुम्हारी बीमारी बढ़ गई है।

अमल—नही फूफाजी, नही—मेरी बीमारी की बात तो मैं ही कुछ नही जानता, किन्तु, वहाँ बैठने पर मुझे अच्छा लगता है।

माधवदत्त—वहाँ बैठ बैठकर तुमने शहर के जितने बच्चे-बुड्ढे हैं सभी से पहचान कर ली है—मेरे घर के सामने प्रतिदिन मानो मेला-सा लग जाता है। ऐसा होने पर क्या तुम्हारा शरीर ठीक रहेगा ? देखो तो, आज तुम्हारा मुँह कितना पीला लगता है।

अमल—फूफाजी, मेरा वह फकीर आज मुझे खिड़की के पास न देख कर शायद चला जायेगा।

माधवदत्त—तुम्हारा फकीर कौन है ?

अमल—वही जो रोज मेरे पास आकर नाना देश-विदेश की कहानियाँ सुनाया करता है—उसकी कहानियाँ मुझे बहुत अच्छी लगती हैं।

माधवदत्त—कहाँ, मैं तो किसी फकीर को नही जानता !

अमल—अब यही ठीक उसके आने का समय हुआ है—तुम्हारे पैर पड़ता हूँ, उससे एक बार कह दो कि वह मेरे कमरे में आकर बैठे !

(फकीर के भेष में ठाकुरदादा का प्रवेश)

अमल—अरे, यही तो हैं फकीर,—आओ मेरे बिछौने पर बैठो।

माधवदत्त—यह क्या ? यह तो—

ठाकुर दादा—(आँखों से इशारा करके), मैं फकीर हूँ।

माधवदत्त—तुम क्या नही हो, यही मेरी समझ में नही आता।

अमल—इस बार तुम कहाँ गये थे, फकीर ?

ठाकुर दादा—मैं क्रौंच द्वीप गया था—वहीं से सीधा आ रहा हूँ।

माधवदत्त—क्रौंच द्वीप ?

ठाकुरदादा—इससे आश्चर्यचकित क्यो होते हो ? मुझे क्या अपनी तरह समझते हो ? मेरे जाने में तो कोई खर्च नही लगता। मैं जहाँ चाहूँ वहाँ जा सकता हूँ।

अमल—(ताली बजा कर) वाह ! तुम्हारा तो बड़ा मजा है ! तुमने कहा था कि मैं जब अच्छा हो जाऊँगा तो मुझे अपना चेला बना लोगे, याद है न फकीर ?

फकीर—खूब याद है। घूमने के ऐसे मंत्र सिखा दूँगा कि समुद्र, पहाड़, अरण्य कही कोई रुकावट नही होगी।

माधवदत्त—तुम लोग क्या पागलो जैसी बाते कर रहे हो ?

ठाकुर दादा—बेटा अमल, मैं पहाड़, पर्वत, समुद्र से नही डरता, किन्तु—तुम्हारे इस फूफाजी के साथ यदि वैद्यजी आकर मिल जायें तो मेरे मंत्र को हार माननी पड़ेगी !

अमल—नही, नही फूफाजी, तुम वैद्यजी से कुछ मत कहना। अब मैं यहाँ सोया करूँगा, कुछ नही करूँगा—किन्तु, जिस दिन मैं अच्छा हो जाऊँगा उसी दिन मैं फकीर से मंत्र लेकर चला जाऊँगा—नदी पहाड़, समुद्र मुझे नही रोक सकेगे।

माधवदत्त—छिः बेटा, केवल जाऊँ-जाऊँ नही करना चाहिये—इससे मेरा मन दुःखी होता है।

अमल—क्रौंच द्वीप कैसा द्वीप है, मुझे बताओ न फकीर ?

ठाकुर दादा—वह बडा विचित्र स्थान है । वह चिडियों का देश है—वहाँ आदमी नही रहते । वे न तो आदमी की तरह बोलती हैं और न चलती ही हैं, वे गीत गाती हैं और उडती रहती हैं ।

अमल—वाह ! कितना सुन्दर । समुद्र के किनारे है न !

ठाकुर दादा—हाँ, समुद्र के किनारे ही तो है ।

अमल—वहाँ के पहाड नीले रग के ह ।

ठाकुर दादा—नीले पहाडो पर ही तो उनके घोंसले हैं । सन्ध्या के वक्त उन पहाडो पर सूर्यास्त की रोशनी पडती है और हरी चिड़ियो के दल अपने घोसलो में लौट आते हैं—उस समय पहाडो का रग, आकाश का रग और चिडियो का रग, यह सब मिल कर अजीब तरह के हो जाते हैं।

अमल—पहाडों पर झरने हैं ?

ठाकुर दादा—वाह ! झरना न रहे तो चलेगा कैसे ? उसका नाच भी अनोखा है ! मानो हीरे को गोल कर उँडेल रहा है । पत्थर के भीतर से कल-कल शब्द से झरता हुआ झरना समुद्र में जाकर मिला है । किसी भी वैद्य के बाप की ताकत नहीं है कि उसे एक दण्ड भी रोक कर रखे । मुझे चिडियों ने यदि नितान्त तुच्छ मनुष्य समझ कर जात से बाहर न निकाल दिया होता तो उस झरने के किनारे उनके हजारो घोंसलो के पास एक ओर बैठ कर समुद्र की लहरे देख कर सारा दिन काट देता ।

अमल—मैं यदि चिडिया होता तो—

ठाकुर दादा—तब एक बडी मुश्किल होती । मैने सुना, तुमने दही वाले से कह रखा है कि बडे होने पर तुम दही बेचोगे—चिडियो में तुम्हारे दही का व्यवसाय वैसा नहीं चलता । शायद उस में तुम्हारा कुछ नुकसान ही होता

माधवदत्त—अब तो मुझ से रहा नही जाता । मुझे भी तुम लोग पागल बना दोगे । लो मैं चला !

अमल—फूफा जी, मेरा दही वाला आकर चला गया ?

माधवदत्त—हां गया ! तुम्हारे इस फकीर की पोटली सर पर रख कर क्रौंच द्वीप जाने से तो उसका पेट नहीं भरेगा—वह तुम्हारे लिये एक कसोरा दही रख गया है और कह गया है कि उनके गाँव में उस की बहन की लड़की की शादी है—और वह कलमिटोले में शहनाई वालों से कहने जा रहा है—इसी लिये वह व्यस्त है।

अमल—लेकिन उसने तो कहा था कि वह मेरे साथ अपनी छोटी भानजी को व्याह देगा।

ठाकुर दादा—तब तो बडी मुश्किल हो गई।

अमल—उसने कहा था कि, वह मेरी सुन्दर-सी दुलहन होगी जो नाक में नथ और लाल पाड़ की साड़ी पहने हुये होगी। वह सुबह अपने हाथ से काली गाय का दूध दुह कर नई मिट्टी के कसोरे में मुझे झाग सहित दूध पिलावेगी और शाम के समय गौशाला में दीपक ले जाकर वहाँ रोशनी दिखायेगी और फिर मेरे पास बैठ कर चम्पा और उसके सात भाइयों की कहानी कहेगी।

ठाकुर दादा—वाह, वाह, दुलहिन तो अच्छी है। मैं तो फकीर हूँ, फिर भी मुझे लोभ हो रहा है। बेटा, उसे भानजी का व्याह करने दो। मैं कहता हूँ कि तुम्हें जब चाहियेगी तो उसके घर में कभी भी भानजी का घाटा नही होगा।

माधवदत्त—चलो-चलो, बहुत होचुका। अब तो सुना नहीं जाता।

(प्रस्थान)

अमल—फकीर, फूफा जी तो चले गये—अब मुझे चुप-चाप बता दो न, क्या डाकघर में मेरे नाम से राजा की कोई चिट्ठी आई है ?

ठाकुर दादा—सुना तो है, उनकी चिट्ठी रवाना हो चुकी है। वह चिट्ठी अभी रास्ते में है।

अमल—रास्ते में ! कौन से रास्ते में ? वही, जो पानी बरसने के बाद आकाश के साफ होते ही दूर पर दिखाई पड़ता है—उस घने जंगल

कहो। इसे अगर भीख नहीं मिलती है तो वह तुम्हारे पास क्यों बैठा रहता है ?

अमल—उसे मैं बहुत सी बातें सुनाता हूँ कि कहाँ क्या है। बेचारा देख तो सकता नहीं है। तुम मुझे जिन देशों की बातें बताते हो, मैं उन्हें उसे सुनाया करता हूँ। उस दिन तुमने मुझे उस हल्के देश की कहानी जो कही थी, जैसा किसी चीज की कोई वजन नहीं है जहाँ जरा सा कूदने पर ही पहाड़ पार कर लिया जाता है, उस कहानी को सुन कर वह बहुत खुश हुआ था। अच्छा फकीर, उस देश में कौन से रास्ते से जाया जा सकता है ?

ठाकुर दादा—भीतर से एक रास्ता जरूर है, लेकिन उसे ढूँढना मुश्किल है।

अमल—वह बेचारा अंधा है, उसे तो शायद दिखाई ही नहीं पड़ेगा—उसे जीवन-भर केवल भीख ही माँगना पड़ेगा। इसे लेकर वह दुःखी हो रहा था—मैंने उससे कहा, भीख माँगते हुये तुम कितने घूमते हो, सभी तो इतना घूम नहीं सकते।

ठाकुर दादा—बेटा, घर में बैठे रहने पर भी किस बात का दुःख है।

अमल—नहीं, नहीं, दुःख नहीं है। पहले मुझे जब घर के भीतर बैठा कर रखा था तो मुझे ऐसा लगता था कि दिन बीतता ही नहीं है, लेकिन राजा का डाकघर देखने के बाद से ही मुझे अच्छा लगता है—इस घर में बैठना भी अच्छा लगता है—एक दिन मेरी चिट्ठी आयेगी, सोच कर खुश होता हूँ और चुपचाप बैठा रहता हूँ। किन्तु राजा की चिट्ठी में क्या लिखा रहेगा यह तो मैं नहीं जानता।

ठाकुर दादा—यह न भी जानो तो क्या है—तुम्हारा नाम तो लिखा रहेगा, वही बहुत है।

(माधवदत्त का प्रवेश)

माधव—तुम दोनों ने मिल कर यह क्या बखेड़ा मचा रखा है,

बताओ तो !

ठाकुर दादा—क्यो, क्या हुआ ?

माधवदत्त—सुना है कि तुम लोगो ने कहा है, राजा ने तुम्ही लोगों को चिट्ठी लिखने के लिये डाकघर खुलवाया है।

ठाकुर दादा—तो उस से क्या हुआ ?

माधवदत्त—हमारे गांव का पंचानन मुखिया जो है उसने गुमनाम की एक चिट्ठी राजा के पास लिखी है और उस में इन बातों को लिखा है।

ठाकुर दादा—राजा के कानों में सभी बातें जाती हैं, यह क्या हम नही जानते ?

माधव दत्त—तब समल कर क्यो नही चलते ? राजा बादशाह के नाम पर ऐसी-वैसी बातें जबान पर क्यो लाते हो ? तुम लोग तो मुझे भी आफत में डालोगे।

अमल—फकीर, राजा क्या नाराज हो जायेंगे ?

ठाकुर दादा—कहने से ही नाराज हो जायेंगे ! कैसे नाराज होते हैं, मैं देखता हूँ। मेरे जैसे फकीर और तुम जैसे बालक पर नाराज होकर वे ऐसी बादशाही करते हैं, यह देखा जायेगा।

अमल—देखो फकीर, आज सुबह से मेरी आँखो के सामने हट-हट कर अँधेरा छा जाता है; ऐसा लगता है, मानो सब कुछ स्वप्न हो। एक दम चुप हो जाने की इच्छा होती है। बात कहने की इच्छा नही होती है। राजा की चिट्ठी क्या नही आयेगी ? अभी यदि यह घर हवा हो जाय—यदि—

ठाकुर दादा—(अमल को पखे से हवा करते हुये) आयेगी बेटा ! आज ही चिट्ठी आयेगी।

(वैद्य जी का प्रवेश)

वैद्य—आज कैसा हाल है ?

अमल—वैद्य जी, आज बहुत अच्छा लग रहा है—ऐसा लगता

है कि सारी वेदना चली गई है ।

वैद्य—(जनान्तिक में माधव के प्रति) इसकी हँसी तो ठीक नहीं लग रही है। वह जो यह कह रहा है कि बहुत अच्छा लग रहा है, यही बुरा लगता है। हमारे चक्रधर ने कहा है—

माधव दत्त—दोहाई वैद्य जी, चक्रधर की बात रहने देवें। अब यह बताइये कि बात क्या है ?

वैद्य—मैं समझता हूँ कि इसे अब रोका नहीं जा सकता। मैं तो मना कर गया था, लेकिन शायद, इसे बाहर की हवा लग गई है।

माधव दत्त—नहीं वैद्य जी, मैंने अच्छी तरह से उसकी निगरानी की है। उसे कहीं बाहर जाने ही नहीं दिया—दरवाजा भी प्रायः बन्द रखता था।

वैद्य—आज एकाएक कैसी एक हवा बह रही है—मैं देख कर आया हूँ कि तुम्हारे सदर दरवाजे से वह हवा वेग से भीतर आ रही है। यह हवा ठीक नहीं है। उस दरवाजे को अच्छी तरह बन्द करके ताला लगा दो, और नहीं तो तुम्हारे यहाँ दो-तीन दिन तक लोगों का आना-जाना बन्द ही रहे तो क्या हर्ज है ! यदि कोई आय जाय ही, तो खिड़की का दरवाजा है ! वह देखो, उस खिड़की से सूरज की रोशनी भीतर आ रही है, उसे भी बन्द कर दो यह रोशनी रोगी को जगा कर रखती है।

माधव दत्त—अमल आँख बन्द करके सो रहा है। उसका मुँह देखने से ऐसा लगता है, वैद्य जी, कि जो अपना नहीं है उसे मैं घर में लाया, उसे प्यार किया, लेकिन अब शायद उसे नहीं रख सकूँगा।

वैद्य—अरे यह क्या ? तुम्हारे घर में तो मुखिया आ रहा है। यह कैसी आफत है ! मैं जाता हूँ, भाई। तुम जल्दी से दरवाजा, खिड़की सब बन्द कर दो। मैं घर पहुँचते ही दवा भेज दूँगा। उसे खिला कर देखो, यदि बचेगा तो उसी से बच जायेगा।

(माधव दत्त और वैद्य का प्रस्थान)

(मुखिया का प्रवेश)

मुखिया—क्यों वे लड़के !

ठाकुरदादा—(जल्दी से खड़ा होकर) अरे, अरे चुप-चुप !

अमल—नही फकीर ! तुम सोचते हो, मै सो गया हूँ ? मैं सोया नही हूँ। मैने सब कुछ सुन लिया है। मुझे मानो वहुत दूर की वात भी सुनाई पड रही है। मुझे ऐसा लगता है कि मेरी माँ और मेरे पिताजी दोनों मेरे सिरहाने बैठे वात कर रहे हैं।

(माधवदत्त का प्रवेश)

मुखिया—क्यो जी माधव दत्त, आज-कल तो तुम्हारा खूब बड़े बड़े लोगों से सम्बन्ध है।

माधवदत्त—क्या कहते हो, मुखियाजी ! ऐसा परिहास मत कीजिए हम तो नितान्त ही साधारण लोग हैं।

मुखिया—तुम्हारा यह लड़का तो राजा की चिट्ठी के लिये अपेक्षा कर रहा है।

माधवदत्त—वह बच्चा है, पागल है, उस की वात पर क्या ध्यान देना चाहिये ?

मुखिया—नहीं-नहीं, इस में आश्चर्य की क्या वात है। तुम्हारे जैसा योग्य घर राजा को कहाँ मिलेगा ? तभी तो ठीक तुम्हारे घर के सामने ही राजा का नया डाक-घर खुला है। अरे लड़के, तेरे नाम से तो राजा की चिट्ठी आई है।

अमल—(चौंक कर) सच !

मुखिया—तुम्हारे साथ राजा की मित्रता है। यह झूठ कैसे हो सकता हैं ! (एक सफेद कागज देकर) हा हा हा हा ! यह रही उनकी चिट्ठी।

अमल—मुझसे मजाक मत करो ! फकीर, फकीर, तुम बताओ न यह क्या सच मुच उनकी चिट्ठी है !

ठाकुरदाद—हाँ वेटा, मै फकीर हूँ, मैं कहता हूँ कि यह उन्हीं की

चिट्ठी है।

अमल—लेकिन मुझे तो इस में कुछ दिखाई नही पड रहा है,—मेरी दृष्टि में आज सब कुछ सफेद होगया है। मुखियाजी, बताइये न इस चिट्ठी में क्या लिखा है।

मुखिया—राजा ने लिखा है, मैं एक-दो दिन में तुम्हारे घर आ रहा हूं। मेरे लिये चावल का भोग बना कर रखना—राज-भवन में मेरा एक दड भी मन नही लग रहा है। हा हा हा हा!

माधवदत्त—(हाथ जोड कर) आपकी दुहाई है, मुखिया जी, इन बातो पर परिहास मत कीजिये!

ठाकुर दादा—परि हास! कैसा परिहास! परिहास कर सके इसकी इतनी हिम्मत है!

माधवदत्त—अरे! ठाकुरदादा, तुम भी पागल होगये हो क्या!

ठाकुरदादा—हां, मैं पागल होगया हूँ। तभी आज इस सफेद कागज पर मुझे अक्षर दिखाई पडते हैं। राजा ने लिखा है, वे स्वयं अमल को देखने आरहे हैं, वे अपने राज वैद्य को भी साथ ला रहे हैं।

अमल—फकीर, वह सुनो, उनका बाजा बज रहा है। तुम्हें सुनाई नहीं पड रहा है?

मुखिया—हा हा हा हा! फकीर थोडा-सा और पागल होगा तब उसे बाजा सुनाई पड़ेगा।

अमल—मुखिया जी, मै सोचा करता था कि तुम मुझ पर नाराज हो,—मुझे तुम प्यार नही करते हो। तुम सचमुच राजा की चिट्ठी लाओगे, यह मैंने नही सोचा था।—दो, मुझे अपने पैरो की धूल दो।

मुखिया—नही, यह मानना ही पडेगा कि इस लडके के श्रद्धा-भक्ति है। बुद्धि न सही, लेकिन मन अच्छा है।

अमल—अब तक चार पहर हो गये होंगे। वह सुनो टन्-टन् टन्—टन्-टन्-टन्। स ध्या का तारा आकाश में निकला है क्या, फकीर? मुझे दिखाई क्यों नहीं पडता?

ठाकुरदादा—उन लोगों ने खिड़की और दरवाजे जो बंद कर रखे हैं। मैं खोल देता हूँ।

(बाहर द्वार पर आघात)

माधवदत्त—यह क्या है ? कौन है! कैसा उपद्रव है!

(बाहर से आवाज)

—द्वार खोलो।

माधवदत्त—तुम कौन हो ?

(बाहर से आवाज)

—द्वार खोलो।

माधवदत्त—मुखियाजी, ये लोग डाकू तो नहीं है ?

मुखिया—कौन है रे! मैं पंचानन मुखिया हूँ। तुम लोगो के मन में डर नही है क्या—देखो एक बार, आवाज बन्द हो गई है। पंचानन की पुकार सुन कर बचाव का रास्ता नही मिलता है। चाहे वह जितना बडा डाकू ही क्यों न हो—

माधवदत्त—(खिडकी से झांक कर) द्वार जो तोड डाला है, तभी आवाज नही आरही है।

(राजदूत का प्रवेश)

राजदूत—महाराज आज रात को आवेंगे।

मुखिया—बाप रे!

अमल—कितनी रात को आयेंग, दूत ?

दूत—आज रात के दूसरे प्रहर।

अमल—जब मेरा बन्धु प्रहरी नगर के सिंहद्वार पर घंटा बजावेगा—टन्-टन्-टन्,—टन्-टन्-टन्—तब ?

दूत—हां, तभी! राजा ने अपने बालक-बन्धु को देखने के लिये अपने सब से बड़े वैद्य को भेजा है।

(राज वैद्य का प्रवेश)

राजवैद्य—यह क्या ? चारो ओर के दरवाजे, खिड़कियां सब कुछ

बन्द हैं। खोल दो, खोल दो, जितने दरवाजे, जितनी खिडकियां हैं सब खोल दो। (अमल की देह पर हाथ रख कर) बेटा, कैसा लग रहा है?

अमल—बहुत अच्छा, बहुत अच्छा लग रहा है, वैद्य जी! मुझे अब कोई बीमारी, कोई कष्ट नही है। आः सब दरवाजे खुल गये हैं, सब खिडकियां खुल गई हैं, सब तारे दीख रहे हैं—अंधकार के भीतर के नक्षत्र भी दीख रहे हैं।

राजवैद्य—आधी-रात को जब राजा आवेंगे तो तुम बिछौना छोड़ कर उनके साथ जा सकोगे न?

अमल—हां, मैं जा सकूंगा। बाहर निकलने पर मुझे कहीं शान्ति मिलेगी, मैं राजा से कहूंगा, इस अंधकार-पूर्ण आकाश में ध्रुवतारा को दिखा दो। मैंने शायद उस तारा को बहुत बार देखा है, किन्तु वह कौन-सा है, यह मै नहीं जानता हूं।

राजवैद्य—राजा सब कुछ बता देंगे। (माधव के प्रति) इस घर को राजा के आगमन के लिये फूल से सजा कर रखो। (मुखिया को दिखा कर) और उस आदमी को तो इस घर में नहीं रखा जा सकता।

अमल—नहीं, नहीं वैद्य जी, वह मेरा मित्र है। आप लोग जब नही आये थे तो उसी ने मुझे राजा का पत्र लाकर दिया था।

राजवैद्य—अच्छा बेटा, वह जब तुम्हारा मित्र है तो वह भी इस घर में रहेगा।

माधवदत्त—(अमल के कानों में) बेटा, राजा तुम्हें प्यार करते हैं तभी वे स्वयं आ रहे हैं—उन से आज कुछ प्रार्थना करना। अपनी अवस्था तो अच्छी नहीं है, यह तो तुम जानते ही हो।

अमल—वह मैं ठीक कर चुका हूं, फूफा जी! इस बारे में आप निश्चिन्त रहें।

माधवदत्त—क्या ठीक किया है, बेटा?

अमल—मैं उन से कहूंगा कि वे मुझे अपने डाकघर का डाकिया बना देवें—मैं सर्वत्र उनकी चिट्ठी बांटता रहूंगा।

माधवदत्त—(ललाट पर कराघात करके) हाय मेरा भाग्य !

अमल—फूफा जी, राजा आयेंगे, उनके लिये कैसा भोग तैयार रखेंगे ?

दूत—उन्होने कहा है कि यहाँ उनका चावल का भोग होगा।

अमल—चावल ! मुखिया जी, तुमने तो पहले ही कह दिया था। राजा की सारी खबरे तुम जानते हो। हमें तो कुछ नही मालूम था।

मुखिया—मेरे घर पर यदि आदमी भेज दो तो राजा के लिये कुछ—

राजवैद्य—कोई आवश्यकता नही है। अब तुम लोग सब स्थिर हो जाओ। इसे नीद आरही है। मैं बालक के सिरहाने बैठूंगा—इसे नीद आ रही है। प्रदीप की रोशनी बुझा दो—अब आकाश के तारो से रोशनी आने दो। इसे नीद आ रही है।

माधवदत्त—(ठाकुर दादा के प्रति) ठाकुर दादा, तुम ऐसे मूर्त्ति की तरह हाथ जोड कर चुपचाप क्यो हो। मुझे न जाने कैसा डर लग रहा है। यह सब जो देख रहा हूँ, ये क्या अच्छे लक्षण हैं ? ये लोग मेरे घर में अधेरा क्यो कर रहे हैं। तारो की रोशनी से मुझे क्या होगा ?

ठाकुर दादा—चुप रहो, अविश्वासी ! बोलो मत !

(सुधा का प्रवेश)

सुधा—अमल !

राजवैद्य—उसे नीद आगई है।

सुधा—मैं जो उसके लिये फूल लेकर आई हूँ। उसके हाथो में क्या इन्हें नही दे सकूँगी ?

राजवैद्य—अच्छा, लाओ तुम्हारे फूल !

सुधा—वह कब जागेगा ?

राजवैद्य—अभी जब राजा आकर उसे बुलायेंगे।

सुधा—तब तुम लोग उसके कानों में एक बात कह दोगे ?

राजवैद्य—क्या कहूँगा ?

सुधा—कहना कि सुधा तुम्हें भूली नही है।

चण्डालिका

प्रथम अंक

मा—प्रकृति, ओ प्रकृति ! अरी गई कहाँ ! न जाने क्या हुआ उसे ! घर में रहती ही नही है ।

प्रकृति—यहाँ हूँ मा, यहाँ ।

मा—कहाँ ?

प्रकृति—यह रही, कुँऐ पर ।

मा—गजब कर रही है तू ! दोपहर हो आई, तवे की तरह धरती तप रही है। पानी तो सुबह ही भरा गया है । पड़ोस की लडकियाँ पानी लेकर कब की घर चली गई और तू वैशाख की दोपहर की धूप सेवन कर रही है । वह देख गर्मी के मारे कौवे गाछ पर किस तरह चिपके पड़े हैं । पुराण-कथा में सुना है, उमा ने घर त्याग कर धूप में खड़ी होकर तप किया था । तू भी क्या वही कर रही है ?

प्रकृति—हाँ मा, तप ही तो कर रही हूँ ।

मा—आश्चर्य ! किसके लिये ?

प्रकृति—जिसने मुझे बुलावा भेजा है ।

(प्रकृति का गान)

जे आमारे दियेछे डाक दियेछे डाक
बचन हारा आमा के जे दियेछे वाक् ॥
जे आमारि नाम जेनेछे ओगो तारि
नाम खानि मोर हृदये थाक् ॥

मा—किसका बुलावा ?

प्रकृति—मेरे अन्तर में उसने कहा है 'पानी दो'।

मा—हा भाग्य! तुझे कहता है—'पानी दो'। कौन है वह! तेरी अपनी जात का कोई?

प्रकृति—यही तो उन्होंने कहा, वे मेरी ही जात के हैं।

मा—तू ने अपनी जात तो नही छिपाई? कहा था कि तू चंडालिनी है?

प्रकृति—कहा था। वे बोले, यह मिथ्या है। वे बोले, श्रावण के काले मेघ का चडाल-नाम देने से क्या हुआ, उस से न तो उसकी जात बदलती है और न उसके पानी का गुण ही चला जाता है। उन्होने कहा, अपनी निन्दा मत करो। आत्मनिन्दा पाप है, आत्म हत्या से भी बढ कर।

मा—तेरे मुँह से ये कैसी बात सुन रही हूँ? तुम्हें क्या पूर्व जन्म की कोई बात याद आ रही है?

प्रकृति—यह मेरे नये जन्म की कहानी है।

मा—नया जन्म! वह कब हुआ?

प्रकृति—उस दिन राज-महल में दोपहर के वक्त मा-मरे हुए बछडे को कुँए के पानी से नहला रही थी। हठात् न जाने कब एक बौद्ध भिक्षु मेरे सामने आकर खडे हो गये। उनके तन पर पीत वसन था। बोले, पानी दो। मैं चौंक उठी, सिहर कर दूर से प्रणाम किया। सुबह की रोशनी जैसा उनका रूप था। मैंने कहा, मैं चडाल कन्या हूँ, कुँए का पानी अशुद्ध है। वे बोले, जैसा मनुष्य मैं हूँ, वैसी ही तुम हो, सब जल तीर्थ-जल है, जो तापित को शान्त करता है तृषित को तृप्त करता है। पहली बार ऐसी बातें सुनी। मैंने अजलि से उन्हें जल दिया, जिनके पैरों की धूलि लेते वक्त भी हृदय काँप उठता था।

मा—अरी अबोध लड़की, सहसा इतनी धृष्टता तुझ में कहाँ से आ गई? इस पागलपन का तुझे प्रायश्चित करना पडेगा। तू क्या अपनी जात भूल गई?

प्रकृति—केवल एक अँजलि जल उन्होने मेरे हाथ से लिया । वही जल अगाध और असीम हो गया । सात समुद्र एक हो गये उस जल में, वहीं मेरा कुल डूब गया, मुझे नया जन्म मिला ।

मा—तेरे मुँह की बात भी बदल गई । तुझे जादू कर दिया है । क्या कहती है कुछ खुद भी समझती है ?

प्रकृति—सारे श्रावस्ती नगर में क्या और कही जल नही था मा ? इसी कुँए के पास क्यों आये ? इसे ही तो अपने नये जीवन का अध्याय कहती हूँ । वे मुझे मनुष्य की तृष्णा मिटाने के लिये शिरोपा दान करने आये थे । इस महा पुण्य को ही ढूँढ रहे थे । जिस जल से व्रत पूरा हुआ वह जल तो और कही नही मिलता, किसी तीर्थ में भी नही । उन्होंने कहा, वनवास के शुरू में ही जानकी इसी जलमें नहाई थी, वह जल लाया था गृहक चंडाल । तभी से मेरा मन नाच रहा है । गंभीर कंठ से दिन-रात यही सुन रही हूँ, पानी दो, पानी दो ।

(प्रकृति का गान)

वले दाव जल, दाव जल ।
देव आमि, के दियेछे हेन सम्बल ।।
कालो मेघ–पाने चेये
एली धेये
चातक विह्वल—
दाव जल, दाव जल ।
भूमि तले हारा
उत्सवेर धारा
अंधकारे
कारा गारे ।
कार सुग भीर वाणी
दिल हानि
कालो शिला तले—
दाव जल, दाव जल ।।

मा—न मालूम क्यों ठीक नहीं जँच रहा है। उन लोगों के मन्तर का खेल मेरी समझ में नही आता है। आज तेरी बात पहचान में नहीं आ रही है, कल तेरा मुँह भी पहचान नही पाऊँगी। उन लोगों का यह नये प्राण का मन्तर है।

प्रकृति—इतने दिनों तक मैंने उन्हें नहीं पहचाना था। जिन्होंने पहचाना है वे ही पहचान करवायेंगे। तभी राह देख रही हूँ। राज-द्वार पर दोपहर के घटे बजते हैं, स्त्रियाँ अपने-अपने घर पानी ले जाती हैं, अकेली चील दूर आसमान पर उडती रहती है। मै अपना घट लेकर कूँए के रास्ते पर आकर बैठ जाती हूँ।

मा—किसके लिये ?

प्रकृति—पथिक के लिये।

मा—तेरे पास कौन पथिक आयेगा, पगली !

प्रकृति—वही पथिक, मा, वही पथिक। उसी में विश्व के सारे पथिक हैं। दिन बीत रहे है, लेकिन वे तो नहीं आये। कुछ न कह कर भी वचन देकर गये थे, किन्तु वचन निभाया क्यों नही ? मेरा अन्तर मरुभूमि की तरह हो रहा है, धू-धू कर रहा है सारा दिन, तप्त हवा चीख रही है, वह अब पानी कैसे दे ? कोई आकर मांगता ही नहीं है।

(प्रकृति का गान)

चक्खे आमार तृष्णा, ओगो
तृष्णा आमार वक्ख जुड़े।
आमि, वृष्टि विहीन वैशाखी दिन,
सन्तापे प्राण जाय जे पुड़े॥

झड़ उठेछे तप्त हाव आय
मन के सुदूर शून्ये धाव आय,
अवगुंठन जाय जे उड़े॥
जे-फूल कानन कोरतो आलो,
कालो होये से शुकालो।

झरनारे से दिलो बाधा
तापेर प्रतापे बाँधा
दुःखेर शिखर चूड़े ॥

मा—तेरी आज की बातें में कुछ भी नही समझ रही हूँ। तुझे कैसा नशा लग गया है, राम जाने ! तू चाहती क्या है, साफ-साफ कह।

प्रकृति—मैं उन्हें चाहती हूँ। वे सहसा आकर मुझे बता गये कि इस संसार में मैं भी किसी की सेवा कर सकती हूँ। यह कितने आश्चर्य की बात है !

मा—याद रखना प्रकृति, उन लोगों की बातें कान में सुनने को होती है, काम में आने वाली नही। अदृष्ट के कारण तूने जिस कुल में जन्म लिया है उसकी अशुचि को धो सके, ऐसा कोई नही है। तू अपवित्र है, अपनी अशुचि को बाहर मत फैला, जहाँ तू है, वही सावधानी से रह। इसके बाहर जाने से ही तेरा अपराध होगा।

(प्रकृति का गान)

फूल बले धन्य आमि माटिर परे,
देवतां ओगो, तो मार सेवा आमार घरे ॥
जन्म नियेछि धूलिते
दया करे दाव भूलिते,
नाइ धूलि मोर अन्तरे ॥
नयन तोमार नत करो
दल गुलि काँपे थरो-थरो।
चरण-परश दियो-दियो,
धूलिर धन के करो स्वर्गीय,
धरार प्रणाम आमि
तोमार तरे ॥

मा—बेटी, तेरी बातें कुछ मैं भी समझती हूँ। तू स्त्री है, सेवा ह

मा—न मालूम क्यों ठीक नहीं जँच रहा है। उन लोगों के मन्तर का खेल मेरी समझ में नही आता है। आज तेरी बात पहचान में नहीं आ रही है, कल तेरा मुँह भी पहचान नही पाऊँगी। उन लोगों का यह नये प्राण का मन्तर है।

प्रकृति—इतने दिनों तक मैंने उन्हें नहीं पहचाना था। जिन्होंने पहचाना है वे ही पहचान करवायेंगे। तभी राह देख रही हूँ। राज-द्वार पर दोपहर के घंटे बजते हैं, स्त्रियां अपने-अपने घर पानी ले जाती हैं, अकेली चील दूर आसमान पर उड़ती रहती है। मैं अपना घट लेकर कूँए के रास्ते पर आकर बैठ जाती हूँ।

मा—किसके लिये ?

प्रकृति—पथिक के लिये।

मा—तेरे पास कौन पथिक आयेगा, पगली !

प्रकृति—वही पथिक, मा, वही पथिक। उसी में विश्व के सारे पथिक हैं। दिन बीत रहे हैं, लेकिन वे तो नही आये। कुछ न कह कर भी वचन देकर गये थे, किन्तु वचन निभाया क्यों नहीं ? मेरा अन्तर मरूभूमि की तरह हो रहा है, धू-धू कर रहा है सारा दिन, तप्त हवा चीख रही है, वह अब पानी कैसे दे ? कोई आकर मांगता ही नहीं है।

(प्रकृति का गान)

चक्खे आमार तृष्णा, ओगो
तृष्णा आमार वक्ख जुड़े।
आमि, वृष्टि विहीन वैशाखी दिन,
सन्तापे प्राण जाय जे पुड़े॥

झड़ उठेछे तप्त हाव आय
मन के सुदूर शून्ये धाव आय,
अवगुंठन जाय जे उड़े॥
जे-फूल कानन कोरतो आलो,
कालो होये से शुकालो।

झरनारे से दिलो बाधा
तापेर प्रतापे बाँधा
दुःखेर शिखर चूड़े ॥

मा—तेरी आज की बातें में कुछ भी नही समझ रही हूँ। तुझे कैसा नशा लग गया है, राम जाने ! तू चाहती क्या है, साफ-साफ कह।

प्रकृति—मैं उन्हें चाहती हूँ। वे सहसा आकर मुझे बता गये कि इस संसार में मैं भी किसी की सेवा कर सकती हूँ। यह कितने आश्चर्य की बात है !

मा—याद रखना प्रकृति, उन लोगों की बातें कान में सुनने को होती है, काम में आने वाली नही। अदृष्ट के कारण तूने जिस कुल में जन्म लिया है उसकी अशुचि को धो सके, ऐसा कोई नही है। तू अपवित्र है, अपनी अशुचि को बाहर मत फैला, जहाँ तू है, वहीं सावधानी से रह। इसके बाहर जाने से ही तेरा अपराध होगा।

(प्रकृति का गान)

फूल बले धन्य आमि माटिर परे,
देवतां ओगो, तो मार सेवा आमार घरे ॥
जन्म नियेछि धूलिते
दया करे दाव भूलिते,
नाइ धूलि मोर अन्तरे ॥
नयन तोमार नत करो
दल गुलि काँपे थरो-थरो।
चरण-परश दियो-दियो,
धूलिर धन के करो स्वर्गीय,
धरार प्रणाम आमि
तोमार तरे ॥

मा—बेटी, तेरी बातें कुछ मैं भी समझती हूँ। तू स्त्री है, सेवा ह

तेरी पूजा है और वही तेरा सब कुछ है। एक क्षण में जात-पांत को एक मात्र स्त्री ही लांघ सकती है। यदि सहसा भाग्य का पर्दा उठ जाता है तो सभी को राजरानी की पकड में आना पडता है। तुझे भी तो वैसा मौका मिला था। याद है न ?

प्रकृति—याद है। मृगया में आकर राजकुमार इसी कुंए पर पानी पीने आये थे।

मा—राजा के महलो में क्यो नही गई ? तेरा रूप देख कर वह तो मुग्ध हो गया था।

प्रकृति—हाँ, वह मुग्ध हुआ था मुझे देख कर। वह भूल गया था कि मै मनुष्य हूँ। पशु मारने निकला था,—इसलिये आंखो से केवल पशु ही दिखाई पडा, उसे ही सोने की जजीर से बांधना चाहा था।

मा—फिर भी शिकार समझ कर उसने यह मुख देखा तो था। अरी भिखारन, उसने क्या तुम्हें नारी के रूप में पहचाना था ?

प्रकृति—तुम नही समझोगी, नही समझोगी। मै जानती हूँ, इतने दिनों के बाद उसी ने मुझे सर्व प्रथम पहचाना है।

(प्रकृति का गान)

ओगो, तोमार चक्खु दिये मेसे सत्य दृष्टि
आमार सत्य रूप प्रथम करेछे सृष्टि ॥
तो माय प्रणाम, तो माय प्रणाम,
तो माय प्रणाम शतबार ॥
आमि तरुण अरुण लेखा,
आमि विमल ज्योतिर रेखा,
आमि नवीन श्यामल मेघे
प्रथम प्रसाद वृष्टि ।
तोमाय प्रणाम, तोमाय प्रणाम,
तोमाय प्रणाम शत बार ॥

उन को ही चाहती हूँ मा ! नितान्त रूप से उन का दर्शन ही

चाहती हूँ । उनके सामने अपने इस जन्म की पूजा की डाली सजा कर रखूँगी । इससे उनके चरण अशुचि नही होगे । सभी लोग मेरी स्पर्द्धा को देख लें । गौरव से मैं यह नही कह सकती कि मे तुम्हारी ही सेविका हूँ, नहीं तो सब के पैरो-तले दासी के रूप में चिरकाल के लिये बँध जाऊँगी ।

मां—झूठा अभिमान क्यों करती है, बेटी । दासी के रूप में ही तू जन्मी है । विधाता के लेख कौन खडन करेगा ?

प्रकृति—छि छि मा, मे तुम्हें फिर कहती हूँ, यह मत भूलो कि मिथ्या निन्दा पाप है राजवश में कितनी दासियों का जन्म होता है. मै वह दासी नही हूँ । ब्राह्मण के घरों में कितने चडालो का जन्म होता है, मैं वह चंडाल नही हूँ ।

मां—तुझ से बात करूँ इतनी बुद्धि मुझ में नही है । यही उचित होगा कि मे उनके पास जाऊँ और उनके पैर पकड कर कहूँ तुम घर-का अन्न लेते हो, मेरे घर से केवल एक अजलि पानी की ही ले लेना ।

(प्रकृति का गाना)

नाना, डाकबोना, डाकबोना अमन करे बाइदे थेके ।
पारि जोदि, अन्तरे तार डाक पठाबो आन बो डेके ।
देबार व्यथा बाजे आमर बुकेर तले
नेबार मानुष जानि ने तो कोथाय चले,
एइ देवा नेवार मिलन आमार घठावे के ॥
मिलबे ना कि मोर वेदना तार वेदना ते,
गंगा धारा मिशबे ना कि कालो जमुना ते
आपनि की सुर उठलो बेजे
आपना होते ऐसे छे जे
गे लो जखन आशर बचन गे छे रेखे ॥

पृथ्वी पर जब अनावृष्टि का अधिकार है तो एक लोटा पानी संग्रह करके क्या होगा मा ? क्या बादल अपने आप आकाश में नहीं

मरेंगे ?

मां—इन बातो से क्या फायदा ? बादल आते हैं तो अपने आप ही आते हैं और नही आते हैं तो नहीं आते हैं। खेती यदि सूख जाती है तो उन्हें क्या ? हम आकाश की ओर देखने के सिवाय कर ही क्या सकते है ?

प्रकृति—ऐसा नही होगा। बैठी नही रहूँगी, तू मन्त्र जानती है, वही मन्तर मेरी बाहु का बंधन होगा, उन्हें बांध लायेगा।

मा—अरी पगलो ! कहती क्या है ? तेरा साहस तो बढता ही जा रहा है ! आग से खेलना चाहती है ? ये क्या साधारण मनुष्य है ? इन पर मन्तर का जोर चलाऊँ ? कल्पना से ही हृदय धडकता है।

प्रकृति—राजकुमार के लिये तो मन्तर पढना चाहती थी तू ? तब साहस कहाँ से आ गया था ?

मा—राजा का डर नहीं था। वह शूल पर चढ़ा सकता है। किन्तु ये तो कुछ नही करते।

प्रकृति—मैं अब नहीं डरती, यदि डरूँ तो पुन नीचे गिर जाऊँगी फिर अपने को भूलूंगी फिर अंधेरी कोठरी में रहना पडेगा। वह तो मरण से भी अधिक है ! उन्हें लाना ही पडेगा, इतनी बड़ी बात इतने जोर से कह रही हूँ, यह क्या कम आश्चर्य की बात है ? यह आश्चर्य तो उन्होने ही घटाया है। और भी आश्चर्य क्या नहीं घटेगा, क्या वे मेरे पास नही आयेंगे, क्या मेरे आधे आँचल पर नहीं बैठेंगें ?

मा—उन्हें मैं शायद ला सकती हूँ। लेकिन तू क्या उसका मूल्य दे सकेगी ? तेरे पास शेष कुछ नही रहेगा।

प्रकृति—नहीं, कुछ न सही। मेरे जन्म जन्मान्तर का दाय कुछ न रहे। एक बार सारा चुका सकूँ तो मुक्त हो जाऊँ तभी तो उन्हें चाहती हूँ। मेरे पास कुछ नही बचेगा। सिर्फ युग-युगान्त से अपेक्षा करता हुआ मेरा यह जन्म सफल हो जायेगा, सार्थक होगा तभी तो मैंने इतनी आश्चर्य जनक बात सुनी—पानी दो आज विदित हुआ कि मै भी दे सकती

हूँ। यह बात सबने मुझ से छिपा कर रखी थी। अपना सब कुछ देने के लिये ही उनकी राह देख रही हूँ।

मा—तू धर्म नही मानती है ?

प्रकृति—कैसे कहूँ ! मै उन्हें ही मानती हूँ जो मुझे मानते हैं। जो धर्म अपमान करता है वह झूठा धर्म है। मुझे जबर्दस्ती यही धर्म सिखाया गया है। किन्तु उस दिन से इस धर्म को मानना मेरे लिये निषिद्ध हो गया है। मुझे अब किसी का डर नही है—तू तेरा मन्तर पढ सकती है, भिक्षु को ले आ चडाल-कन्या के पास। मै ही उन्हें सम्मान दूँगी। इतना बडा सम्मान और कोई नही दे सकता।

(प्रकृति का गान)

आमि तारेइ जानि तारेइ जानि
आमाय जे जन आपन जानें,
तारि दाने दावि आमार
जार अधिकार आमार दाने ॥
जे आमारे चिनते पारे
सेइ चेनाते चिनि तारे,
एकइ आलो चेनार पथे
तार प्राणे आर आमार प्राणे ॥
आपन मनेर अंधकारे ढाक लो जारा
आमि तादेर मध्ये आपन-हारा ।
छुँइये दिलो सोनार काठि,
घुमेर ढाका गेलो फाटि,
नयन आमार छुयेछे तार
आलो-करा मुखेर पाने ॥

मा—तुझे शाप लगने का डर नही है ?

प्रकृति—शाप तो जन्म से ही लगा हुआ है। एक शाप के जहर से दूसरे शाप का जहर शान्त हो जाता है। मै अब कुछ नही सुनूँगी, मा,

रास्ते पर श्रमणो का दल

बुद्धो सुसुद्धो करुणा महान्नवो
योच्चान्त सुद्धव्वर ग्यान लोचनो,
लोकस्स पापू पकिलेस घात को
वन्दामि बुद्धम् अहमाद रेण तम् ।

प्रकृति—देखो मा, वे सब के आगे-आगे चल रहे हैं। इस कुंए की ओर एकबार भी नहीं देखा। और एक बार तो कह सकते थे, जल दो। मैंने सोचा था वे मुझे त्याग करके नहीं जायेंगे—मैं उन्ही के हाथ से नई सृष्टि हूँ।

(बैठ कर बार-बार धरती से माथा ठोक कर)

यह धूल, यह धरती ही तेरी अपनी है—अभागन, किसने तुझे एक क्षण के आलोक से मुग्ध किया था? इसे क्या दया कहते हैं? अन्त में तो इसी धूल में मिलना पडा, और चिरकाल तक यही पडा रहना, लोगो के पैरो के तले।

मा—बेटी, भूल जा, यह सब भूल जा। सोच ले, तेरे एक क्षण का सपना टूट गया और वे चले गये। जो स्थिर नही है, वह जितना जल्दी नष्ट हो जाय उतना ही अच्छा होता है।

प्रकृति—यह प्रति दिन का अभाव, यह प्रति मुहूर्त का अपमान अन्तर के पिंजडे की चिडिया को पख मरोड कर मरना सपना होता है, मा! जो हृदय की गति के साथ मिल गया है, वह सपना है? और वे, उनके न कोई बधन है, न कोई सुख-दुःख की परवाह है, न दुनिया का झमेला है—शरत् के मेघ की तरह उड रहे हैं—वे ही जाग रहे हैं, वे क्या स्वप्न नही हैं?

मा—तेरा कष्ट देखा नहीं जाता प्रकृति! तू उठ। मन्त्र पढ कर मैं उन्हें लाऊंगी ही। इस धूल भरे रास्ते से लाऊंगी। 'कुछ नहीं चाहिये' उनका अहकार तोडूंगी—वे दौड कर आयेंगे।

प्रकृति—मा, तुम्हारा मन्त्र जीव-सृष्टि के शुरू का है। इन लोगो

का मन्त्र कच्चा है। वे तुम से नही रुकेंगे। तुम्हारे मन्त्र के जोर से उनका मन्त्र ढीला पड़ जायेगा। उन्हें हारना ही पड़ेगा।

मा—वे लोग कहाँ जा रहे हैं?

प्रकृति—वे जाते हैं, बस, इतना ही जानती हूँ। वे जाते कही नहीं हैं। जब वर्षा आती है तो चातुर्मास्ये के लिये बैठते है। फिर ये जायेंगे, कहाँ जायेंगे, यह नही मालूम! इसे ही वे लोग 'जागना' कहते हैं।

मा—पगली, तब क्या कह रही थी मन्तर के बारे में? वे कहाँ जा रहे हैं—कहाँ से लौटा कर लाऊँ?

प्रकृति—जहाँ भी जाएँ लौटाना ही होगा, तुम्हारे मन्तर से दूर नही हैं।

(प्रकृति का गान)

जाय जोदि जाक सागर तीरे।
आवार आसुक, आवार आसुक, आसुक फिरे!
रेखे देवो आसन पेते
हृदयेते,
पथेर धूलो भिजिये देवो अश्रु नीरे॥
जाय जोदि जाक शैल शिरे।
आसुक फिरे, आसुक फिरे।
लुकिये रबो गिरि गुहाय
डाकवो उहाय—
आमार स्वपन ओर जागरण रहवे घिरे॥

मुझ पर उन्होंने दया नही की, मैं भी उन्हें दया नही करूँगी। तेरा सब से जो निष्ठुर मन्त्र है, उसे ही पढ़ना। मुझे त्याग कर कैसे जायेंगे।

मा—चिन्ता मत करो। असाध्य नही है। तुझे माया दर्पण दूँगी। उसे हाथ में लेकर नाचना। उस की छाया दर्पण में पड़ेगी। उसी में देखती रहना, वह कितनी दूर लौट कर आया।

प्रकृति—उधर देख, पश्चिम में बादल घुमड़ आये हैं । तूफानी बादल ! मन्तर लगेगा मा, लगेगा । शुष्क साधन सूखे पत्ते की तरह उड़ जायेगा । आलोक बुझ जायेगा । रास्ता दिखाई नही पड़ेगा । घूम-फिर कर इसी दरवाजे पर आयेंगे, जिस तरह आँधी से घोंसले की चिड़िया अँधेरे आँगन में आकर गिरती है । मेरा हृदय काँप रहा है, मन में बिजली कौंध रही है, समुद्र की तरंग फूल रही है । इसके बाद और कुछ दिखाई नहीं पड़ रहा है ।

मा—अभी भी सोच ले । बीच में डर तो नही जायेगी ? मन्त्र जब ऊँचाई पर चढ़ जायेगा तो सहसा रोकने पर मेरे प्राण निकल जायेंगे ।

प्रकृति—तू डरती है, किसके लिये ? वह क्या साधारण मनुष्य है । उसका कुछ नहीं विगड़ेगा—अन्त तक आग को लाँघ कर भी वह आयेगा । मैं मानस में देख रही हूँ, सामने प्रलय की रात्रि है, मिलन का तूफान है और विनाश का आनन्द है ।

(प्रकृति का गान)

हृदय मन्द्रिलो डमरू गुरू गुरू,
घन ये घेर गुरू, कुटिल कुँचित,
होलो रोमांचित वन वनान्तरः
दुलिल चंचल वक्ष हिन्दोले
मिलन स्वप्ने से कोन् अतिथि रे ।
स्वन-घर्षण-शब्द मुखरित
वज्र-सचकित मस्त शर्वरी,
मालती-वल्लरी काँपाय पल्लव
करुण कल्लोले,
कानन शंकित झिल्लिझंकृत ॥

प्रकृति—मेरा हृदय विदीर्ण हो जायेगा । मै दर्पण में नही देखूँगी । कितना भयकर तूफान है ! वनस्पति क्या अपना अभ्रभेदी गौरव त्याग कर धरती पर गिर पड़ेगी ?

मा—देख बेटी, यदि अब भी चाहे तो मै अपने मंत्र को याद करूँ । इससे यदि मेरे प्राण जांय तो जांय, महाप्राण की रक्षा तो हो जायेगी ।

प्रकृति—यही अच्छा है, मा, रहने दे तेरा मत्र । अब उसकी जरूरत नहीं है ।—नही, नही, नही—अब रास्ता ही कितना है ! अन्त तक उसे आने दे मेरे पास, मेरे हृदय के पास । फिर सारा दुःख अपना विश्व संसार देकर मिटा लूँगी । गंभीर रात को पथिक आयेगा, हृदय की सारी भभकन से प्रदीप जलाऊँगी, अमृत के झरने से उसका अभिषेक होगा—जो श्रान्त है, तप्त है, क्षत-विक्षत है । और एक बार वह कहेगा—पानी दो—मेरे-हृदय समुद्र का जल । वह दिन भी आयेगा , तेरा मत्र चालू करदे, करदे चालू ।

(प्रकृति का गान)

दुःख दिये मेटाव दुःख तो मार,
स्नान करार अतल जले विपुल वेदनार ॥
मोर संसार दिबे जे ज्वालि,,
शोधन हबे ए मोहेर कालि,
मरण-व्यथा दिबो तोमार चरणे उपहार ॥

मा—बेटी, इतनी देर लगेगी, यह नही जानती थी । मेरा मत्र तो अब पूरा होने वाला है । मेरे प्राण कठ में अटक रहे हैं ।

प्रकृति—डरो मत, मा, थोडी देर और ठहर जा ! अधिक देर नहीं है।

मा—आषाढ तो आ गया, उनका चातुर्मास्य भी तो शुरू हो गया है।

प्रकृति—वे वैशाली के गोशिरसघ में गये हैं।

मा—तू कितनी निष्ठुर है ! वैशाली तो बहुत दूर है।

प्रकृति—अधिक दूर नही है मा। केवल सात दिन का रास्ता है। लेकिन पन्द्रह दिन तो कट गये। अब ऐसा मालूम होता है कि वे आ रहे हैं, जो बहुत दूर थे, जो लाख योजन पर थे, जो चाँद और सूर्य के उस पार थे, वे ही आ रहे हैं। उनके आगमन पर मेरा हृदय काँप रहा है।

मा—मैंने मत्र का सारा अनुष्ठान पूरा कर लिया है। इतने में तो वज्रपाणि इन्द्र भी खिच कर आ जाते। फिर भी उसे देर हो रही है। देख, कैसा मरणान्तक युद्ध चल रहा है। दर्पण में क्या देख रही थी ?

प्रकृति—पहले सारे आसमान में गंभीर कोहरा दिखाई पडा, युद्ध में हारे हुये देवताओं के सफेद मुँह जैसा। कोहरे के बीच से अग्नि की झलक निकलती हुई देखी। फिर, कोहरा छिन्न भिन्न हो गया—आसमान का रग लाल हो गया। दूसरे दिन पीछे घने काले बादल दिखाई पडे। बिजली चमक रही थी, वही वे खडे थे—उनके सर्वाङ्ग को घेर कर आग जल रही थी। डर के मारे मेरा रक्त ठडा हो गया। दौड कर तुझे कहने आई—अभी बन्द कर दे अपना मंत्र। किन्तु, शिव नेत्र में काठ की तरह निश्चल होकर बैठी थी। तुझे बाह्‌य ज्ञान नही था। ऐसा लगा तेरे मन में भी कहीं आग जल रही हो। जिस पावक से वे अपने मन को ढक रहे थे, तेरी अग्नि नागिन फूं'फू करती हुई उधर ही झपट रही थी। लौट कर आकर दर्पण देखा तो रोशनी चली गई थी—केवल दु'ख, दु ख, असीम दु ख की मूर्त्ति दिखाई पडी।

मा—महर क्यों नहीं गई उसे देख कर ! उसी का प्रभाव तो मेरे अन्तर को बींध रहा था।

प्रकृति—जिस दु.ख का रूप देखा वह तो उनके अकेले का नही था, वह मेरा भी था, हम दोनो का। भीषण आग की ताप से सोने के साथ तांबा मिल पाया है।

मा—तुझे डर नही लगा ?

प्रकृति—डर से बहुत बडा, मानो मैंने सृष्टि के देवता को देखा, देवता से भयकर—अपने काम में आग को नियुक्त कर रखा है। और आग उनके दबाव से केवल कराह रही है। सप्तधातु के पात्र में क्या है, उनके चरणो के पास—प्राण या मृत्यु ? मेरे मन में एक आनन्द उठने लगा। उसे क्या कहूँ ? उसे कहूँगी नई सृष्टि का विराट वैराग्य चिन्ता, भय, दया, दुखी कुछ नहीं है—टूटता है, जलता है, पिघल जाता है। उससे अग्नि स्फुलिंग निकलते हैं। मेरा सारा मन अग्नि शिखा की तरह नाच उठा।

(प्रकृति का गान)

हे महादु:ख, हे रुद्र, हे भयंकर,
ओहे शंकर, हे प्रलयंकर।
होक जटा निःसृत अग्नि भुजंगम—
दंशने जर्जर स्थावर जंगम,
धन-धन झन-झन, झननन झननन
पिणाक टंकरो॥

मा—कैसा देखा तेरा भिक्षु को ?

प्रकृति—देखा, वे अनिमेष दृष्टि से, गो-धूलि आकाश के तारे की तरह बहुत दूर की ओर देख रहे हैं। इच्छा हुई अपने पास से अनन्त योजन की दूरी पार चली जाऊँ।

मा—तू दर्पण के सामने जब नाच रही थी तो क्या उन्होंने तुझे देखा था ?

प्रकृति—धिक्-धिक्,! ऐसा लग रहा था, वार-बार वे क्रुद्ध नेत्रों से अभिशाप दे रहे हैं। फिर सयत होकर क्रोध को शान्त करते हैं। अन्त

में देखा, उनका क्रोध कांपता हुई उन्ही की ओर सेल की तरह गया और उनके मर्म में विध गया।

मा—तूने यह सब सहा ?

प्रकृति—आश्चर्य चकित हो गई। मैं, तुम्हारी बेटी मै जिसे कोई नहीं जानता, उसका दुःख और इसका दु ख एक होगया। सृष्टि में कहाँ ऐसा हुआ होगा— इतनी बडी बात किसने सोची होगी ?

मा—यह उत्पात कब शान्त होगा ?

प्रकृति—जब तक न मेरा दु ख शान्त होगा। तब तक दुःख उन्हें दूंगी ही। मुझे यदि मुक्ति नही मिलेगी तो उन्हे मुक्ति कैसे मिल सकती है ?

मा—तूने अतिम बार दर्पण कब देखा है ?

प्रकृति—कल शाम को। वैशाली के सिहद्वार को कुछ-दिन पहले ही पार कर गये थे। रात अधेरी थी, वे चुपचाप, श्रमणो के अत्तात में चले गये थे, इसके बाद कभी उन्हें नाव से नदी पार करते देखा, कभी दुर्गम पर्वत को लांघते देखा, कभी जगल में अकेले चलते देखा। जितना समय बीतता जाता है, स्वप्न की तद्रा बढती ही जाती हैं, वे निर्विचार से पथ पर चल रहे हैं, अपने मन के सारे छद का निपटारा करते रहते हैं, उन के मुख पर विखलता के चिह्न, शरीर पर शैथिल्य—दोनो आखो के सामने मानो वस्तु नही हैं, अच्छाई बुराई, सत्य, मिथ्या कुछ नही है। केवल एक चिन्ताहीन अन्धा लक्ष्य है जिस का कोई अर्थ नही होता।

मा—आज वे कहाँ है अन्दाज कर सकती हैं ?

प्रकृति—कल सध्या के वक्त उन्हें उपली नदी के तीर पारल गांव में देखा था। नव वर्षा की उन्मत्त जल-धारा—धार के पास पुराने पीपल में झींगुर चमक रहे थे। नीचे एक वेदी थी—यहा आते ही सहसा वे चौंक कर खडे होगय। बहुत परिचित स्थान लगा,— मैंने सुना है, इस वेदी पर बठ कर भगवान बुद्ध ने राजा सुप्रभाष को उपदेश दिया था। वहा वे दोनों हाथों से मुंह ढक कर बैठ गये। सहसा स्वप्न

मानो टूट गया। तभी दर्पण को फेंक दिया—चिन्ता हुई, न जाने क्या दिखाई पड़े। इसके बाद सारे दिन कुछ जानने की प्रकृति नही हुई। अब रात का अंधकार घना हो रहा है। प्रहरी पुकारता हुआ राजपथ से जा रहा है—एक प्रहर शायद कट गई। अब तो वक्त नही है मा, इस रात को व्यर्थ मत जाने दे। अपनी सारी ताकत मंत्र में लगा दे।

मा—अब सहा नही जाता बेटी। मन्त्र दुर्बल हो रहा है। मेरा शरीर भी अवश हो रहा है।

प्रकृति—दुर्बल होने से नही चलेगा। आशा मत छोड़! लौटने के लिए उन्होने मुँह घुमाया है। देख चिरकाल के लिये, मेरे इस जन्म के संसार से वे चले जायेंगे। शायद फिर कभी उनके दर्शन न पाऊँ। तब वही चण्डालिनी रह जाऊँगी। यह मिथ्या में सह न सकूँगी। तेरे पैरों पड़ती हूँ मा, एक बार अपनी सारी शक्ति लगादे। अब अपना वसुंधरा-मन्त्र शुरू कर।

(प्रकृति का गान)

आमि तो आरि मादिर कन्या,
जननी वंसुधरा।
तवे आमार मानव जन्म
केनो वंचित करा॥
पवित्र जानि जे तुमि
पवित्र जन्म भूमि—
मानव कन्या आमि जे धन्या
प्राणेर पुण्ये भरा॥
ओरा तोमाय तुच्छ करे,
रहि तोमार वृन्त, परे।
आमि जे तोमार आछि
नितान्त काछा काछि

मरीचिका-अन्वेषणे—
बुझि तृष्णार शेष नेइ–
मने भय लागे सेइ,
हाल-भाँगा पाल छेंडा व्यथा
चलेछे निरुद्देशे ॥

मा—अरी निष्ठुर, मुझ पर दया कर। मैं अब नही सह सकती। जल्दी से दर्पण देख!

प्रकृति—(दर्पण देख कर ही उसे फेंक देती है)—मा, ओ मा, रहने दे, रहने दे, रहने दे तेरा मन्तर। अभी बन्द कर! अरी राक्षसी तूने यह क्या किया? तू मर क्यो नही गई? हे 'भगवान' मैंने यह क्या देखा! कहाँ है मेरा वह दीप, उज्वल, स्वर्गीय आलोक! कैसा म्लान होकर, आत्म पराजय का प्रकांड बोझा लिये मेरे द्वार पर आया है। सर झुका कर आया है। यह सब दूर हो—

(पैरो से मन्त्र के उपकरण तोड दिये)

अरी तू चंडालिनी यदि नही है तो वीर का अपमान मत कर। उन की जय हो, उन की जय हो।

(आनन्द का प्रवेश)

प्रभु, आये हो मुझे उद्धार करने—तभी तुम्हें इतना दुख मिला—क्षमा कीजिये। असीम ग्लानि को पदाघात से दूर कर दो। तुम्हें धरती पर उतार लाई हूँ, नही तो मुझे कैसे अपने पुण्यलोक में ले जाते। हे निर्मल, तुम्हारे पैर में जो धूल लगी है वह सार्थक होगी। मेरा माया का आवरण खुल कर धूल में मिल जायेगा। तुम्हारी जय हो।

मा—प्रभु की जय हो! मेरे पाप और प्राण दोनो ही तुम्हारे चरणों पर गिरते हैं। मेरी यात्रा यहीं समाप्त होगई—तुम्हारे क्षमा के तीर पर।

(मृत्यु)

आनन्द—

बुद्धो सुसुद्धो करुणा महान्नवो
योच्चन्त सुद्धब्बर-दाँन लोचनो ।
लोकस्स पापूपकिलेस घातको
वन्दामि बुद्धम् अहमादरेण तम् ।

ज्ञातव्य

'चण्डालिका' रवीन्द्रनाथ की मूल बँगला नाटिका, 'चण्डालिका' का हिन्दी अनुवाद है। इसकी कथा राजेन्द्रलाल मित्र सम्पादित ने पाली बौद्ध साहित्य में शार्दूल कर्णाव दान का जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है, उसी से संगृहीत है। कहानी का घटनास्थल श्रावस्ती नगर है। भगवान् बुद्ध उस वक्त अनथपिण्डद के उद्यान में प्रवासी रूप में रह रहे थे। उन के प्रिय शिष्य आनन्द एक दिन एक गृहस्थ के यहाँ से भोजन कर के आ रहे थे। रास्ते में उन्हें प्यास लगी। उन्होंने एक कुँए के पास चण्डाल-कन्या प्रकृति को पानी भरते देखा। आनन्द ने प्रकृति से जल माँगा। प्रकृति ने अंजली से उन्हें पानी दिया। आनन्द का रूप देख कर प्रकृति मुग्ध होगई। उन्हें पाने के लिये वह पागल होगई। जब और कोई उपाय नही सूझा तो अपनी मा से सहायता माँगी। उस की मा जादू जानती थी। उसने आँगन में गोबर से लेप दिया और एक वेदी बनाई। उस वेदी पर आग जलाई और मन्त्र उच्चारण करके १०८ अर्क के फूल आग में डाले। आनन्द मन्त्र शक्ति को रोक नही सके। रात को वे प्रकृति के घर आये। वे जब वेदी पर बैठ गये तो प्रकृति उन के लिये बिछौना बिछाने लगी। आनन्द के मन में तब परिताप उठा। परित्राण के लिये वे भगवान् से प्रार्थना करने लगे।

भगवान् बुद्ध अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा आनन्द की परिस्थिति जान गये। तब उन्होंने एक बौद्ध मन्त्र पढा। इस मन्त्र के प्रभाव से

चंडालिनी की वशीकरण विद्या दुर्बल होगई और आनन्द मठ में लौट गये।

नाटिका में आये हुये मूल बँगला गीतो की हिन्दी छाया क्रम से आगे दी जा रही है।

पृष्ठ—१ जिसने मुझे पुकारा है, वाणी दी है, मेरा नाम जाना है, उसका नाम मेरे हृदय में रहे।

पृ०३ कहता है—पानी दो, पानी दो। मै पानी हूँ, इतनी सम्बल किसने दी है ? काले मेघ को देखकर विह्वल चातक पानी के लिये आये हैं, उत्सव की धारा भूमि पर लूट रही है। किसकी सुगभीर वाणी ने काले पत्थर को विचलित किया।

पृ०४—मेरी आँखो में, अतर में तृष्णा है। मै वृष्टि विहीन वैशाख का दिन हूं। सताप से प्राण जल रहे हैं। तप्त हवा में तूफान आया है। मेरा मन सुदूर शून्य की ओर जाता है। मेरा अवगुठन उड रहा है। जो फूल बगीचे में सुंदर लगता था, वह सूख गया। ताप और दुख से बँधे हुये झरने को किसने बाधा दी है।

पृ०५—फूल कहता है मैं धन्य हूँ। हे देवता, तेरी सेवा मेरे घर में ही है। मैंने धूल से जन्म लिया है। दया करके मुझे यह भूलने दो कि मेरे अतर में धूल नही है। तुम्हारे नयन नत करो। अपने चरणो के स्पर्श से धूल को स्वर्गीय कर दो। तुम्हारे लिये मै ही धरती का प्रणाम हूँ।

पृ०६—तुम्हारे नेत्र से अल्प दृष्टि निकलती है। मेरा सत्य रूप पहली बार सृष्टि किया है। तुम्हें शत बार प्रणाम। मै तरुण अरुण की किरण हूँ, विमल ज्योति की रेख हूँ, नवीन श्यामल मेघ का प्रथम प्रसाद हूँ।

पृ०७—इस तरह बाहर से नही बुलाऊँगी। यदि अतर से बुला सकूं तो ही बुलाऊंगी। दान के करने की व्यथा मेरे अतर में बज रही है लेकिन इस दान को लेने वाला कौन है ? इस लेन देन को कौन

घटाये। मेरी वेदना क्या उनकी वेदना से नहीं मिलेगी ? गगा धार क्या काली यमुना से नही मिलेगी ? अपने से यह कौन सा सुर वज उठा है ! जाते वक्त आने का वचन दे गया है।

पृ० ९—मैं उन्हें ही जानती हूँ जो मुझे जानते हैं। मेरा उसी के दान पर अधिकार है जिसका अधिकार मेरे दान पर है। जिसने मुझे पहचाना है उसके और मेरे अतर में एक ही रोशनी है। अपने मन के अंधेरे को जिन्होने ढक लिया है मैं उन्ही में खो गई हूँ। सोने का जादू दड स्पर्श करते ही मेरे नयन खुल गये और उनका उज्ज्वल मुँह देखने के लिये दौड पडे।

पृ० १०—धूल पर पडे हुये म्लान कुसुम पर अपने चरणो का स्पर्श रखो। अपराध से भरी यह डलिया अपने हाथो से खाली करके असीम करुणा भर दो। मैं तुच्छ हूँ और तुम उच्च हो। मेरे दोष को तुम्हारा पुण्य कलक मुक्त करेगा।

पृ० १३—यदि समुद्र के तीर पर जाते हैं तो जांय। हृदय में उनके लिये आसन बिछा कर रखूँगी। रास्ते की धूल को अश्रु से भिगो दूंगी। यदि शैल शिखर पर जांय तो जांय। मैं गिरि गुफा में छिप कर रहूँगी।

पृ० १४—हृदय का डमरू धीरे धीरे वज उठा। घन मेघ की भृकुटी कुटिल, कुंचित हो उठी। वन के वृक्ष चचल हो उठे। मिलन स्वप्न का वह कौन अतिथि है रे ! घन घोर वर्षा से रात्रि चकित है। झींगुर ध्वनि से कानन कपित है।

पृ० १५—दुख से तुम्हारा दुख मोचन करूँगी। अपनी मरण-व्यथा तुम्हारे चरणो में उपहार दूँगी।

पृ० १७—हे महा दुख, हे रुद्र, हे भयकर, हे शकर, हे प्रलयकर, अपनी जटा से अग्नि उद्गार करो। अपना पिनाक टकरो।

पृ० १९—हे वसुधरा, मैं तुम्हारी कन्या हूँ, फिर मेरा मानव जन्म क्यों वञ्चित है। तू पवित्र है, तुझे अपनी जन्म भूमि जान कर मैं धन्य

हूँ। वे तुम्हें तुच्छ समझते हैं। मैं तो तुम्हारे अति निकट हूँ। अपनी मोहनी शक्ति मुझे दो।

पृ०२०—मेरे रुद्ध मुकुलों का दल अंधकार में अमृत लिये हुये मेरे पास आओ। मेरी वीणा के तार में तुम संगीत के रूप में आओ। चिर रजनी का अवसान होकर नये अरुणोदय का आह्वाहन आये। तुम्हारी रश्मि से उषा को सिन्दूर पहनाऊँगी।

पृ०२१—रास्ते का शेष कहा है ? अन्त में क्या है ? इतनी कामना इतनी साधना कहाँ मिलती है ? तरंग उठती है, कगार ढहते हैं। घना अन्धकार है। कौन से देश में पार है ? आज मन में सोचती हूँ, मरीचिका के पीछे तृष्णा का अन्त नहीं है। मन में भय होता है। मेरी व्यथा निरुद्देश में जा रही है।